आत्म विकास की राहें

नित्यानन्द पटेल

आत्म विकास की राहें

[पुरस्कृत]



पुस्तकायन

आत्म विकास की राहें

नित्यानन्द पटेल



मूल्य : ५०.००

प्रकाशक : **पुस्तकायन** (सुबोध पॉकेट बुक्स का उपक्रम), २/४२४०-ए, अंसारी रोड, नई दिल्ली-११०००२ / संस्करण : १९८८ / मुद्रक : अजय प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-११००३२

AATM VIKAS KI RAHEN by Nityanand Patel

महात्मा गांधी की पुण्य स्मृति में

जो लाखों सहृदयों की आँखों में जब-तब स्नेह, श्रद्धा, भक्ति और न जाने किन-किन भावों से भरे आँसू भर-भर लाती है, और हृदय को निर्मल बनाने में मदद करती है।

मनुष्य का दिल निर्मल हो जाय,
तो पृथिवी पर स्वर्ग में साम्राज्य
स्थापित होने में,
क्या ज़रा भी देर लग सकती है ?

नवसारी
२० अक्तूबर, १९६४

नित्यानन्द पटेल

विषय-सूची

प्रस्तावना

'आत्म-विकास की राहें' पढ़कर बड़ी प्रसन्नता हुई। इस संग्रह में शिक्षा, संस्कृति तथा सदाचार-सम्बन्धी भारतीय किन्तु आधुनिक दृष्टि से लिखे हुए करीब तीस निबन्ध हैं। ज्यादातर निबन्ध कर्मयोग पर लिखे हुए हैं। लेखक की साहित्य-शक्ति कसी हुई है। उसका जीवन-चिन्तन आर्यवृत्ति का है। वर्तमान परिस्थिति का लेखक को अच्छा आकलन है। व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के भारतीय आर्य-आदर्श के प्रति पूर्ण श्रद्धा और आदर रखते हुए लेखक जानता है कि मनुष्य अपने जमाने की शक्ति-अशक्ति से मर्यादित है।

लेखक के एक वाक्य से ही इन निबन्धों का वायुमंडल ध्यान में आयेगा—"बहुत ऊँची हाँकने से समाज में निराशा और अवसाद का वातावरण ही प्रस्तुत होता है।"

आजकल के बहुत-से लेखक गांधीजी के विचारों से अपरिचित ही होते हैं। चन्द लोग सुनी-सुनाई बातों पर से गांधी-विचार के बारे में कुछ कल्पना कर लेते हैं और 'जितना ज्ञान और चिन्तन कम, उतना जोश ज्यादा' इस न्याय से गांधी-विचार को अव्यवहार्य और कालग्रस्त करार कर देते हैं और पश्चिम के (केवल विलायत के नहीं, किन्तु यूरोप व अमरीका के) विचारों में आधुनिकता और अन्तर्राष्ट्रीयता देखकर वहाँ की जीवन-दृष्टि की ताईद करते हैं।

दूसरे चन्द लेखक (इनकी संख्या बड़ी तेजी से अब कम हो रही है) गांधीजी के विचारों को शास्त्र-वचन मानकर उसके अन्दर रहने में ही अपनी और दुनिया की सुरक्षितता देखते हैं। वे मानो कहते हैं कि "सोचने का काम गांधी-विनोबा का है, हमारा काम श्रद्धा-भक्ति से उनका उपदेश ओढ़ने का और बुद्धि का उपयोग उनके वचनों का सही अर्थ करने-भर का

है।" श्री नित्यानन्द पटेल इन दोनों सिरों को टालकर अपनी बुद्धि के अनुसार चलना चाहते हैं। गांधीजी के ऋण को स्वीकार वे करते ही हैं, लेकिन चलते हैं अपनी बुद्धि से। यह अच्छा लगता है, क्योंकि ऐसा ही होना चाहिए, न केवल गांधीजी के बारे में किन्तु वेद, उपनिषद् और गीता आदि धर्म-ग्रंथों के बारे में भी।

जो कोई लेखक औरों की बातें बिना सोचे कबूल करने को तैयार नहीं है, वह कभी अपेक्षा रख नहीं सकता कि उसकी बातें भी लोग वैसी-की-वैसी कबूल करें।

कोई कभी नहीं चाहता कि समाज में अश्रद्धा की ही प्रधानता हो। अगर समाज में, मनुष्य-जीवन में एकरागता न रही तो सर्वत्र अव्यवस्था ही हो जायगी। इतना ही नहीं, व्यक्ति के जीवन में भी कभी एक विचार, कभी दूसरा विचार, कभी दृढ़ निश्चय, कभी शिथिलता, ऐसी अव्यवस्था हो जायेगी। समाज तो मतभेदों का काफी आदी है, लेकिन एक ही कुटुम्ब-परिवार में अगर वायुमंडल का एकराग नहीं रहा, श्रद्धा, निष्ठा का अराजक हो गया, तब तो कौटुम्बिक जीवन में संगीत न रहकर कोलाहल मच जायेगा। ऐसा आज तक नहीं हुआ, इसका कारण लोगों में अपनी सार्वभौम संस्कृति के प्रति श्रद्धा है। दूसरा महत्त्व का कारण यह भी है कि जहाँ परस्पर प्रेम और आत्मीयता है, वहाँ पर मतभेद कभी तीव्र होते ही नहीं। और जो मतभेद रहते हैं, उनमें समन्वय दृष्टि का कुछ-न-कुछ सामंजस्य पैदा हो ही जाता है।

लेखक ने पाँच-सात निबन्धों में संयम, मनोजय, ब्रह्मचर्य, आदि नामों से पहचाने जाने वाला विषय छेड़ा है। इसमें लेखक के ऊपर आजकल के विचारों का और दलीलों का कुछ विशेष असर दीख पड़ता है।

गांधीजी स्वयं भक्ति-मार्गी अद्वैतवादी थे। समाज के लिए समझौते का आसान तरीका दिखाने के लिए वे इस दुनिया में आये ही नहीं थे। मनुष्य की हृदय-शक्ति और धर्म-बुद्धि पर पूरा विश्वास रखने-जितने वे आस्तिक थे। उन्होंने मनुष्य को दुराचार और अनाचार से बचकर, गृहस्थाश्रम की निष्ठा के रास्ते, पूर्ण ब्रह्मचर्य की साधना द्वारा मोक्ष तक पहुँचने का रास्ता बताया। 'जो साधना एक आदमी के लिए शक्य है, वह असंख्य लोगों के

लिए भी शक्य होनी ही चाहिए।' यह है गांधीजी का विश्वास। गांधीजी मनुष्य की सहज दुर्बलता को समझ सकते थे; किन्तु आदर्श की कठिनता उन्हें परास्त नहीं करती थी। "मनुष्य हजार बार गिरेगा, लेकिन हार कर अपने आदर्श को नीचे खींचेगा नहीं। वह सतत ऊपर उठने का यत्न करता रहेगा। इसी में उसकी मानवता है।" यह है गांधीजी की भूमिका।

जो चीज कठिन है उसे अव्यवहार्य कहना और आदर के चार शब्द की अंजली चढ़ाकर उसे नामंजूर करना आजकल के लिए शायद आसान होगा, लेकिन जो लोग गांधीजी के आदर्श को और उनकी साधना को अव्यवहार्य बताते हैं वे सोचते नहीं कि जिस रास्ते की वे सिफारिश करते हैं, वह कितना खतरनाक है और गिरानेवाला है।

जब स्मृतियाँ लिखी गईं तब जीवन-कलह आज के जैसा विषम नहीं था। खाने-पीने को उन दिनों शायद अच्छा नहीं मिलता था, लेकिन कोई भूखा नहीं रहता था और बड़े लोग शादीशुदा लड़कियों को आशीर्वाद देते थे, 'अष्टपुत्रा सौभाग्यवती भव।' एक ओर नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का आदर्श था, तो दूसरी ओर कई स्त्रियाँ बीस-बीस बच्चों की माताएँ बनती थीं। कविवर रवीन्द्रनाथ के भाई-बहनें कुल मिलाकर एक दर्जन से ज्यादा थीं।

तो भी प्राचीनकाल के शास्त्रकारों ने प्रजोत्पत्ति की इच्छा के बिना संभोग की कल्पना भी न की थी। जो दिन वर्ज्य गिने जाते थे, धार्मिक दृष्टि से, न कि प्रजोत्पत्ति टालने के खयाल से। पुराने लोगों ने लोक-संख्या का और संतति-नियमन का विचार आज के जैसा किया ही नहीं था। इसलिए स्मृतियों में या गृह्यसूत्रों में जो नियम अथवा आदर्श बताये हैं, उनके प्रति आदर रखते हुए उनका फिर से विचार करना ही चाहिए।

लेकिन यह विचार करे कौन? समाज के जिन नेताओं ने संस्कृति के विकास का अच्छा अध्ययन किया है, और आध्यात्मिक आदर्श के प्रति जिनकी श्रद्धा है, और जो मनीषी समाज की मानसिक, आर्थिक और सामाजिक स्थिति पूरी तरह जानने के कारण आदरणीय नेता बन सकते हैं, ऐसे लोग ही आज के समाज को युगानुकूल सलाह दे सकते हैं। अर्थात् यह हो गई आदर्श की बात। आज का मानव आदर्श की चर्चा रोज उठकर नये ढंग से करने के लिए तैयार है; किन्तु उसके मन पर असर होता है दो ही बातों

का। उनमें से एक है तबीबी अभिप्राय और डॉक्टरों की सलाह, और दूसरी बात है कानूनों का बंधन। इन दोनों के सामने शरीफ आदमी सिर झुकाता ही है। नेताओं की सलाह और जन-लज्जा का वंधन तो देखते-देखते ढीले होते जाते हैं। उनमें एकवाक्यता कभी थी ही नहीं। जो थोड़ी थी वह आज नहीं रही। हम यह भी नहीं कह सकते कि पुराने सामाजिक आदर्श अच्छे ही थे।

आजकल का बहुत-सा चिन्तन हमारे लिए पश्चिम के लोग ही करते हैं। हमारा काम अपनी अभिरुचि के अनुसार पश्चिम के विचार और उन लोगों की दलीलें ओढ़ लेने का भी है। हम जानते हैं कि आज देश में संतति-नियमन के पश्चिमी प्रकार मध्यम वर्ग में और उच्च वर्ग में काफी फैले हुए हैं। अनुभवी लोग कहते हैं, इससे कोई नुकसान प्रतीत नहीं होता। पति-पत्नी के प्रेम-सम्वन्ध में भी कोई बाधा नहीं आती।

मान लिया कि यह बात सही है, तो भी जहाँ से ये सब बातें आती हैं वहाँ के समाज की हालत किसी से छिपी हुई नहीं है। पश्चिमी समाज की निन्दा करनेवाले हमारे सनातनी लोग जैसा बताते हैं, वैसी बुरी हालत वहाँ नहीं है। पश्चिम के रस्म-रिवाज हमसे भिन्न भले हों, लेकिन वहाँ पर सज्जन लोगों की ही बहुतायत है, और सामाजिक जीवन में स्वच्छता हमसे कम नहीं है—कुछ ज्यादह ही होगी।

लेकिन वहाँ के नेताओं ने समाज का निरीक्षण करके जो रिपोर्ट प्रकाशित किये हैं, और वहाँ के साहित्य में आदर्श की जो चर्चा होती है, वह देखने से चिन्ता बढ़ती जाती है। डर है कि समाज पतन की ओर बढ़ रहा है, और आध्यात्मिक आदर्श की बात तो छोड़ ही दें, सामाजिक स्वास्थ्य के आदर्श भी ढीले होते जा रहे हैं।

यह तो मानना ही होगा कि प्राचीन काल से लेकर आज तक स्त्री-पुरुष-सम्वन्ध के बारे में मनुष्य-जाति ने जितने भी प्रयोग करके देखे, किसी में भी सन्तोषकारक सफलता नहीं मिली। स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध व्यवस्थित और कल्याणकारी बनाने के हेतु मनुष्य ने विवाह की संस्था खड़ी की। उसमें मातृप्रधान और पितृप्रधान अनेक प्रकार आजमाये। इनका इतिहास पढ़के हम चकित हो जाते हैं। आश्चर्य होता है कि मनुष्य ने स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध के

बारे में कितनी गहराई से सोचा है ! और तो भी अनुभव कहता है कि कोई भी एक आदर्श आजतक पूरी सफलता प्राप्त कर नहीं सका है।

ऋषि-मुनियों ने देखा कि स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध के आदर्श तीन हैं—प्रथम है रति, दूसरा है प्रजा, और तीसरा है धर्म। रति, प्रजा, धर्म, यह है स्वाभाविक क्रम। धर्मकारों से मनुष्य-कल्याण की बात सोचकर इस क्रम को उलटा दिया और कहा, स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध विवाह की मर्यादा में ही होना चाहिए और उसमें भी सबसे अधिक महत्त्व दिया जाय धर्म को यानी समाज-कल्याण को। उसके बाद प्रधानता देनी चाहिए सन्तान की इच्छा के लिए। इन दोनों की प्रधानता स्वीकार करने के बाद कुदरती प्रेरणा को भी स्थान देना चाहिए, जो है रति अथवा कामवासना। इसे आज लैंगिक आकर्षण भी कहते हैं।

हम पुराने धर्मशास्त्र और स्मृति-ग्रन्थ की दुहाई देकर अब चल नहीं सकते। सामाजिक नेताओं को अब समाज-कल्याण के खयाल से नया मौलिक चिन्तन करना चाहिए। पुराने आदर्श, परम्परागत रस्म-रिवाज और आजतक का अनुभव, इनकी उपेक्षा हम नहीं कर सकते; किन्तु अंधे होकर इनका बंधन भी मंजूर नहीं कर सकते।

साथ-साथ यूरोप अमरीका के लोगों ने जो आदर्श मोहक भाषा में और तृप्तिदायक दलीलों के साथ हमारे सामने पेश किए हैं, उनके मायाजाल में भी हम न फँसें। उनका समाज आज किस ओर जा रहा है, वह भी देखना होगा, वल्कि अनुभव से हम सयाने वनें और आज के समाज की शक्ति-अशक्ति देखकर संतोषकारक समाज-व्यवस्था हम सृजित करें।

हमने इतना ही कहकर छोड़ दिया कि पश्चिम का आज का प्रस्थान खतरे से मुक्त नहीं है, लेकिन इतना कहकर छोड़ देना वस नहीं है। वहाँ क्या चल रहा है, वहाँ के समाज-हितैषी क्या सोच रहे हैं, और वहाँ का अनुभव क्या सिखाता है, उसका पूरा चित्र हमारे समाज के सामने रखना चाहिए। यह काम इस प्रास्ताविक लेख द्वारा नहीं हो सकेगा।

सब कुछ सोचने के वाद, मनुष्य-स्वभाव पर विश्वास रखकर हिम्मत-पूर्वक नये प्रस्थान की तैयारी करनी है। हजारों बरसों से चलती आई चीज अगर आज काम की न रही तो उसे छोड़ने की हिम्मत हमें करनी होगी,

और कोई नयी चीज नीरोगी और हितकर प्रतीत होवे तो उसको स्वीकार करके उसे आजमाने की भी हमारी तैयारी होनी चाहिए। हिम्मत करने का ही यह जमाना है।

सन्निधि
राजघाट, नई दिल्ली

—काका कालेलकर

प्रारम्भिक निवेदन

मात्र चार-पाँच वर्षों में लिखे हुए निबन्धों का यह संग्रह पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत है। निबन्धों के रूप में, भारतीय संस्कृति के कुछ प्राचीन सिद्धान्तों को ही, आज की सर्व-सुबोध भाषा में कह दिया गया है। महर्षियों द्वारा अनुभूत जीवन-सचाइयों के प्रकाश में हम अपनी जीवन-राहें निश्चित कर सकें, यह सर्व-भाँति सुरक्षित है। बस इतना ही तो वक्तव्य है। निबन्धों के रूप में ये निबन्ध कहाँ तक खरे उतरे हैं, सहृदय पाठक स्वयं परीक्षा कर सकेंगे।

जहाँ-तहाँ निबन्धों में गीता का सहारा लिया गया है। यों कहिए कि मुख्यरूपेण गीता महाग्रन्थ के विभिन्न भावों को विशद करने का ही यह एक नम्र प्रयास है। महात्मा गांधी ने कहीं लिखा है कि गीताग्रन्थ में जीवन को उच्च और आनन्दमय बनाने की कितनी ही उपयोगी सामग्री बिखरी पड़ी है। इस सामग्री की जितनी चर्चा की जा सके और उसे जितने रूपों में प्रस्तुत किया जा सके, हमेशा कम ही है। पाठकों को न जाने कहाँ से, कब, जीवन के लिए प्रकाश मिल जाय, कुछ नहीं कहा जा सकता। महात्माजी के इसी कथन से प्रेरणा प्राप्त कर यह नम्र प्रयास प्रस्तुत है।

महात्माजी के सिवाय, आचार्य विनोबा, श्री काका कालेलकर, श्री किशोरीलाल घनश्यामलाल मशरूवाला, इत्यादि समर्थ विचारकों ने अपने लेखों और ग्रन्थों द्वारा गीता के सम्बन्ध में नया प्रकाश दिया है, यह बिल्कुल सत्य है। भारतीय जनता पर उनका उपकार अनुपम है। ऐसे समर्थ लेखकों के होते हुए भी, हमने क्यों प्रयास किया है, यह ऊपर कहा जा चुका है। अगाध समुद्र में से दो-चार रत्न, यदि सामान्य जन के भी पल्ले पड़ जायँ, तो इसे समुद्र की ही महिमा कहना होगा।

निबन्धों में मौलिकता होने का दावा न करना ही सुरक्षित है। उपर्युक्त

चारों समर्थ विचारकों के विचारों से जितनी बन पड़ी सहायता ली है। वे मार्गदर्शक हैं, हम तो राही हैं। मर्जी हो तो 'आत्म विकास की राहें' को उन सबकी ही कृति कह लीजिए। हमने तो व्यक्ति और समाज के लिए, जो कुछ शुभ प्रतीत हुआ है उसे सीधी-सादी भाषा में प्रस्तुत कर दिया है।

भाषा के सम्बन्ध में भी जितने मुख हैं, उतनी ही बातें हैं। प्रत्येक निबन्ध में भाषा एक-जैसी ही रही हो, ऐसा कुछ नहीं है। कहीं वह संस्कृत-शब्द-प्रधान है और कहीं खिचड़ी भाषा है। हमें तो यह भी पसन्द है वह भी पसन्द है। कुछ लोग ऐसा अवश्य कहेंगे कि हम जान-बूझकर भाषा को बिगाड़ रहे हैं, अपना तो ऐसा कुछ इरादा नहीं है। न हमें ऐसा अहंकार है कि हमारी चन्द पंक्तियों से, हिन्दी भाषा कुछ बन या बिगड़ जायगी। हाँ. यह तो मानना ही होगा कि आज़ादी के साथ हिन्दी भाषा को राष्ट्रभाषा बनने का जो गौरव प्राप्त हुआ है, उससे उसमें नया विकास होना निहायत ज़रूरी है। कितना ही बच-बचकर चलिए, उसमें विभिन्न प्रान्तों की भाषाओं का थोड़ा-बहुत पुट तो आएगा ही। हम यह नहीं मानते कि इससे हिन्दी भाषा बिगड़ जाएगी। असल में वह समृद्ध होगी और जन-समूह की संस्कृति को अधिक समृद्ध रूप से वाचा दे सकेगी। हम तो यही कहेंगे, हमने बड़ा संयम किया है। हमारे मिलने-जुलनेवालों ने आग्रह न किया होता, तो गुजराती भाषा का पुट इन निबन्धों की भाषा में कहीं अधिक होता। यह अच्छा हुआ या खराब, यह निश्चय करना हम अपने पाठकों पर ही छोड़ते हैं। हाँ, श्री नेहरूजी के इन विचारों से हम प्रभावित अवश्य हैं कि हिन्दी भाषा को, उसकी नई परिस्थिति का ध्यान रखते हुए, अभी बहुत अधिक सुबोध और सरल बनाने के लिए, लेखकों को आगे बढ़ना चाहिए।

निबन्धों में कहीं-कहीं एक ही भाव की आवृत्ति हो गई है। विभिन्न समयों पर लिखे हुए निबन्धों में ऐसा हो जाना कुछ अस्वाभाविक नहीं है। फिर जहाँ भावों की आवृत्ति हुई है, वहाँ, उन भावों को हृदयंगम करना विशेष आवश्यक है, ऐसा समझ लिया जाय तो शायद कोई हर्ज न हो। वैसे लेखक को जो बात विशेष रूप से कहनी है, उसकी आवृत्ति तो हो ही जाती है। स्वयं गीता में भावों की आवृत्ति क्या कुछ कम है? गीत में अन्तरा फिर-फिर आयेगा ही। उससे गीत का माधुर्य शायद बढ़ ही जाता है।

भारतीय संस्कृति के मर्मज्ञ, साहित्य-उपासक, मौलिक-चिन्तक श्री **काका साहब कालेलकर जी** की प्रस्तावना-पंक्तियों से पुस्तक की शोभा में चार चाँद लग गये हैं। उनके उपकार को हम कभी न भूल सकेंगे। जिन विद्वान् विवेचकों ने अपनी अमूल्य सम्मतियों से हमें उत्साहित किया है, हम हृदय से उनके ऋणी हैं।

जहाँ-तहाँ गीता के श्लोक उद्धृत किये हैं, उनके आगे केवल अध्याय और श्लोक का प्रतीक लिखकर छोड़ दिया है, पाठक उन्हें गीता के श्लोक ही समझें।

'आत्म विकास की राहें' के अध्ययन से, यदि दो-चार पाठकों को जीवन की राह स्पष्ट हो सकी, तो हम अपना परिश्रम सफल समझेंगे।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग् भवेत्॥

शनिवार २० जून, १९६४ **नित्यानन्द पटेल**
गुल काटेज, नवसारी

: १ :

नया पैग़म्बर

'सच्ची शिक्षा विवेक जगाकर, सुन्दर व्यवहार करना सिखाती है।'
—गांधी

ऊँचाई से गिरना अति भयंकर है। दूसरे देशों का इतिहास प्राय: प्रगति का इतिहास है। वे शनैः-शनैः ऊँचे और ऊँचे चढ़ते गए हैं। वे भूल नहीं कर रहे, यह बात नहीं, फिर भी, चरित्र की नई-नई ऊँचाइयाँ वे सर करते जा रहे हैं। इसके विपरीत हम नीचे गिरे हैं, नहीं-नहीं, बहुत नीचे गिरे हैं।

प्राचीन तस्वीर

किसी समय हम जगत्-गुरु थे :—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥ मनु० २.२०

हमारे पूर्वज कभी स्वजीवन से दुनिया को चरित्र की शिक्षा देते थे। उस समय के नैतिक दृष्टि से समृद्ध भारत की तस्वीर, छान्दोग्य उपनिषद् में, राजा अश्वपति के शब्दों में, उपलब्ध होती है :—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

मेरे राष्ट्र में एक भी चोर, कंजूस, शराबी, यज्ञ न करने-

वाला, अशिक्षित और व्यभिचारी नहीं है; फिर व्यभिचारिणी तो हो ही कैसे सकती है ?

आज की तस्वीर

ईसा के जन्म के पश्चात् लगभग एक हज़ार वर्ष तक, यह नैतिक समृद्धि सामान्य रूप से रही। फिर तो पड़ती का समय आता है। "भाषा में कृत्रिमता और स्थापत्य में सजावट की भरमार इसी पतनशीलता के प्रमाण हैं। यहाँ आकर हमारे विचार, पुराने विचारों की आवृत्ति बन जाते हैं और कारयित्री (Creative) शक्ति दिनोंदिन क्षीण होने लगती है। शरीर और मन दोनों की साहसिकता से, हम भय खाने लगते हैं। जाति-प्रथा का और भी विकास होता है, एवं समाज के दरवाज़े चारों ओर से बन्द हो जाते हैं।"

—जवाहरलाल नेहरू

फिर तो दृष्टि संकुचित हो गई। स्वार्थ ने खूब पैर फैलाए। आपस की फूट फैलने लगी। समूचा सामाजिक जीवन तहस-नहस हो गया। फलस्वरूप सहस्रों वर्षों की आज़ादी हम खो बैठे, गुलाम हुए। दूसरों का घर भरनेवाला दरिद्र और कंगाल होकर ही रहेगा।

पैग़म्बर की ज़रूरत

क्रान्ति के चिह्न अवश्य हैं, पिछले १००/५० वर्षों से हलचल ज़रूर हो रही है; परन्तु जहाँ-तहाँ इतनी विकृतियाँ, जातीय जीवन में प्रविष्ट हो चुकी हैं कि हम उठ ही नहीं पा रहे। हम बहे जा रहे हैं; पूर्व या पश्चिम के किन आदर्शों को लेकर हमें खड़ा होना है, हम निश्चित ही नहीं कर पा रहे हैं। किसी ज़बर्दस्त धक्के की या पैग़म्बर की ज़रूरत है, जो खेकर हमें किनारे की ओर ले जाय। मँझधार में देर तक नौका डगमगाती रही, तो डूब जाने का भारी भय है।

पैग़म्बर का खून

ओह पैग़म्बर ! पैग़म्बर तो आया था। गांधी से बड़ा पैग़म्बर इस युग में कहाँ से आएगा ? गुणों के उत्कर्ष में, वह हिमालय के एवरेस्ट शिखर से किसी क़दर कम ऊँचा न था। गहराई में, शांत महासमुद्र की गहराइयों से कहीं अधिक गहरा। एक छोर से दूसरे छोर तक वह हिन्दुस्तान को हिला गया। आज़ादी तो क्या, सांस्कृतिक चेतना की एक ज़बरदस्त लहर वह उठाना चाहता था। देश को फिर से प्रथम पंक्ति में बैठाने का उसका इरादा था। यदि वह सौ वर्ष जीता, जैसी उसकी तमन्ना थी, तो दिङ्-मूढ़ देश को राह पर लगा देता। मँझधार में डग-मगाती नाव को साहिल पर पहुँचा देता।

कि……न्तु हाय ! फूट गये भारत के भाग्य ! छा गया सब ओर गहरा अँधेरा। हत्यारे मानव ने उसे जीने ही न दिया। दुनिया में जब-जब पैग़म्बर राह दिखाने आया, मानव ने उसे गोलियों का शिकार ही बनाया। अपने पैरों पर आप कुल्हाड़ी मारकर वह ठहाके लगाता है।

शिक्षा ही पैग़म्बर है

पैग़म्बर तो अब आने से रहा। उसे गोलियों का शिकार होने का डर लग गया हो, सो बात नहीं। वह तो काँटों का मुकुट पहनकर, हिंसा और हत्या, द्रोह और कृतघ्नता के बीच चलता-फिरता है। गोलियों और फाँसी का उसे डर ही क्या ? परन्तु रोज़-रोज़ पैग़म्बर कहाँ आता है ? आये तो पैग़म्बर ही न रहे। उसके लिए तो शताब्दियों तक राह देखनी पड़ती है।

तो फिर, सुधार कैसे हो ? राष्ट्रीय चरित्र में ज़बरदस्त क्रांति कैसे आए ? सच्चा शिक्षक पैग़म्बर ही है। इंगलैंड, अमेरिका, जर्मनी, जापान, रूस आदि जिन देशों ने राष्ट्रीय चरित्र को ऊँचा उठाया है तो इसी अपने पैग़म्बर की मदद से।

दूसरा कोई जादू नहीं है। सदाचार-समितियाँ सुधार करेंगी या भ्रष्टाचार बढ़ावेंगी, भगवान् ही जाने !

शिक्षा में बुनियादी परिवर्तन

हमारे देश के रहनुमाओं को सीधी-सी बात भी सूझ नहीं रही—यही रंज और अफ़सोस है। आज़ादी के बाद यदि कोई सबसे ज़रूरी काम था—आर्थिक योजनाओं से भी ज़रूरी—तो देश की शिक्षा-व्यवस्था को ठीकठाक करना था। किन्तु दुर्भाग्य है कि सबसे अधिक उपेक्षित विभाग यदि कोई रहा है तो शिक्षा-विभाग। ४० वर्ष से ज़्यादा समय बीत चुका, परन्तु देश की शिक्षा-पद्धति में अब भी कोई बुनियादी परिवर्तन नहीं हुआ है। इसमें न एकरूपता आ सकी है, न इसे सुव्यवस्थित और सुनियोजित ही किया जा सका है। वही पुरानी चाल है, अपनी-अपनी डफली, अपना-अपना राग। पैसा और नौकरी, सौ वर्ष पहले, परदेसियों ने इसका जो उद्देश्य गढ़ा था, उसमें रत्तीभर भी फेरफार नहीं हुआ।

शिक्षा व्यापक बनी, तेजस्वी नहीं

माना कि शिक्षा व्यापक हो गई है, पढ़े-लिखों की तादाद खूब बढ़ चली है, डॉक्टर और इंजीनियर ज़्यादा संख्या में तैयार हो रहे हैं, परन्तु इन गौण बातों पर गर्व करना बिल्कुल नादानी है। बड़ी बात जिसपर अभिमान किया जा सकता है वह तो इन्सानियत है ! पढ़े-लिखों में इन्सानियत की वृद्धि नहीं हुई, उनका चरित्र सुदृढ़ नहीं हुआ, वे अच्छे नागरिक न बने, मिल-जुलकर वे बड़े-बड़े काम उठा न सके, अपने और अपने कुटुम्ब से आगे देखने की विशाल दृष्टि उन्हें मिल न सकी, छोटे-छोटे घरोंदों से वे बाहर न निकल सके, अड़ोस-पड़ोस के ग़रीब लोगों के प्रति उनमें दया-माया न उपजी, मतलब यह कि देश के लिए वे न जीना सीखे, न मरना सीखे—तो फिर उन्होंने सीखा क्या, पढ़ा

क्या ? यही बुनियादी फेरफार है, जिसकी सबसे पहले ज़रूरत है। इसके बिना, ६० प्रतिशत तो क्या १०० प्रतिशत लोग भी पढ़-लिख जाएँ, तो देश का कौन-सा बड़ा कल्याण हो जायगा ?

कल्याण कि अकल्याण

अकल्याण शायद ज़्यादा हो। देश में फूट बढ़ेगी, भ्रष्टाचार फैलेगा; लड़ाई-झगड़े ज़्यादा होंगे, चोरी-जारी की नई-नई तरकीबें निकलेंगी, कामचोरी खूब होगी। मिलों और कारखानों में आये दिन हड़तालें होंगी, जुलूस निकलेंगे, मारपीट होगी, अनुशासन शिथिल होगा। दफ़्तरों में पंखों के नीचे आराम से कलम घिसना छोड़, धूप में पसीना बहाने की मूर्खता कोई न करेगा। १५-२० प्रतिशत के नहीं, सौ के सौ प्रतिशत देशवासियों के हाथ-पैर लूले-लँगड़े हो जाएँगे। आज का शिक्षित युवक, उठकर पानी का गिलास स्वयं कहाँ भर सकता है ? उसका बिस्तर दूसरा कोई बिछा दे, तो वह आराम से सो सकता है। वह श्रम से जी चुराता है, चैन की ज़िन्दगी गुज़ारना चाहता है। यही जीवन-क्रम हो तो फिर साफ़सूफ़ी कौन करेगा ? सड़कें और गलियाँ गंदगी से भरी होंगी; जीवन दूभर हो जायगा। कहना यही है कि शिक्षा का १०० प्रतिशत विस्तार, हमें जीने की तरफ़ ले जायगा या मरने की तरफ़, राम ही जाने !

गुणवत्ता में वृद्धि

गत वर्षों में हम चुप तो नहीं बैठे रहे। स्वभाव के मुताबिक बढ़ा-चढ़ाके बातें कीं। चर्चा के लिए पचासों शिक्षा-कमेटियाँ रचीं-तोड़ीं, तोड़ीं-रचीं—खूब दिखावा किया, परन्तु कोल्हू के बैल की तरह रहे वहीं के वहीं ! शिक्षा के विस्तार में नहीं, गुणवत्ता में एक इंच भी आगे बढ़े हों, ऐसा नहीं। बल्कि वितण्डा-विवाद से सौ-सौ नई समस्याएँ खड़ी कर दीं। शिक्षितों को घर में ही अजनबी या बेघर का बना दिया।

सौन्दर्य की सृष्टि

बात तो सीधी-सी थी। इन्सान केवल बुद्धि ही नहीं, हृदय और हाथ-पैरवाला भी है। उसके हृदय, हाथ और बुद्धि में ठीक-ठीक मेल बैठाने की बात थी। माथे को बहुत मोटा बना दिया जाय और पैरों को पिचका दिया जाय, तो शरीर बदसूरत होगा ही; इतना ही नहीं, वह जीवन के लिए निकम्मा भी साबित होगा। सब अंगों की सुघड़ता और समविकास का नाम ही खूबसूरती है। इतनी-सी बात थी। शिक्षण द्वारा सौन्दर्य की सृष्टि करनी है। सब अनगढ़ता और कुरूपता मिटा-कर सौन्दर्य की सृष्टि करना ही शिक्षण का उद्देश्य है। पैग़म्बर भी इसीलिए धरती पर अवतार लेता है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे। गीता ४.८

शिक्षण की गुणवत्ता की समस्या पर सम्पूर्ण ध्यान केन्द्रित हो, तो भ्रष्टाचार भी दूर होगा, भावनात्मक एकता भी स्थापित होगी और आर्थिक विकास की सब योजनाएँ शत-प्रतिशत सफल होंगी। तीनों लोक सुधरेंगे।

अधिक क्या कहूँ! किसी पड़ोसी को अपनी मैली नज़र इधर डालने की हिम्मत न होगी। स्वतंत्रता सुरक्षित रहेगी, भारत के भाग्य उज्ज्वल होंगे।

२४ मई, १९६४

: २ :

रसना-संयम

'कामे जिते जितं सर्वं, जितं सर्वं जिते रसे।'

"पशु जितना ब्रह्मचर्य रखते हैं, उतना मनुष्य नहीं रखते। इसका कारण यह है कि पशुओं का जीभ पर पूरा अधिकार है—जान-बूझकर नहीं, बल्कि स्वभाव से ही। सिर्फ घास-चारे से उनका गुज़ारा होता है। इसे भी वे पेट-भर ही खाते हैं।

हम पेट को ठूँस-ठूँसकर भरने के लिए कई मसाले काम में लेते हैं और कई तरह की बानगियाँ बनाते हैं, और फिर कहते हैं कि ब्रह्मचर्य क्यों नहीं पाला जाता ?"

—महात्मा जी

आजकल के युग को असल में खाने-पीने का युग ही कहना चाहिए। खाने-पीने का जैसा विराट् आयोजन और आडम्बर आज हो रहा है वैसा शायद ही कभी हुआ हो। सुबह से शाम तक ६-७ बार खाने को अमीरी व सभ्यता का चिह्न समझा जाने लगा है। ऐसे समय रसनेन्द्रिय के संयम के सम्बन्ध में दो शब्द कहना अप्रासंगिक न होगा।

रसनेन्द्रिय की जय आज ही नहीं प्राचीन समय में भी पर्याप्त कठिन रही है। भागवतकार ने कहा है—

इन्द्रियाणि जयन्त्याशु निराहारा मनीषिणः।
वर्जयित्वा तु रसनं तन्निरन्नस्य वर्द्धते ॥

बुद्धिमान् लोग इंद्रियों को उनके आहार (विषयों) से अलग

रखकर जीत लेते हैं, किन्तु जीभ इसमें अपवाद है। निराहार से वह अधिक बलवती होती है।

'रसनेन्द्रिय की विजय कैसे सुलभ हो' यह चर्चा हम नहीं कर रहे। रसना के संयम का ठीक-ठीक आशय क्या है, यह विस्पष्ट करना ही प्रथम आवश्यक है, क्योंकि इस संबंध में बहुत-सी ग़लत धारणाएँ हमारे देश में प्रचलित हैं।

गीता में आहार के सात्त्विक, राजस और तामस भेद किये गये हैं—

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥ १७-८-१०

सरल शब्दों में राजस-तामस आहारों को छोड़ते हुए, सिर्फ़ सात्त्विक आहार, वह भी परिमित परिमाण में करना रसना-विजय है। यह सब तो सर्वथा योग्य दृष्टि है। सामान्य जनों के लिए यह सुसाध्य है। परंतु हमारे यहाँ बात का बतंगड़ बना दिया गया है।

ग़लत धारणाएँ

(क) स्वच्छ और सात्त्विक भोजन आनंद और प्रसन्नता से किया जाय, यह भी बाज़ लोगों को नागवार प्रतीत होता है।

(ख) कितने ही लोग रसना-संयम के लिए, रसना को ओषधियों के प्रयोग आदि से ऐसा बहिरा बना देना आवश्यक मानते हैं कि वह कोई स्वाद परख ही न सके।

(ग) गीता अपनी परिभाषा में "सुखप्रीतिविवर्धन" की बात कहती है। ये लोग कहते हैं कि भोजन रसना को अच्छा या रुचिकर लगना ही न चाहिए। अच्छा भोजन भी रसना को

जब रुचिकर लगना बन्द हो जाय, तभी समझना चाहिए कि रसनेन्द्रिय की जय सिद्ध हुई है।

(घ) खट्टे, मीठे, नमकीन आदि सब भोज्य पदार्थ मिला देने से वना हुआ विल्कुल बेस्वाद और कुरूप भोजन यदि जिह्वा मज़े से कर सके, तो समझना चाहिए कि रसना-संयम सिद्ध हुआ है।

(ङ) जीने के लिए खाना है यह तो ठीक है, पर खाने के साथ आनंद का यदि अनायास ही मेल हो जाय तो इसमें कौन-सा पाप है? सुख के पीछे दौड़ने से सुख आगे दौड़ जाता है, परन्तु उसकी ओर पीठ फेर लेने से वह ख़ुद-ब-ख़ुद घर आ पहुँचता है। इस सुख को घर से निकाल वाहर कर देने में ही क्या वैराग्य है? यदि ऐसा ही हो तो मानना पड़ेगा कि जीवन और जगत् के सम्बन्ध में हमारी दृष्टि अत्यंत संकुचित है।

(च) माना कि मांस, मदिरा, मिष्टान्न तथा मसालेदार भोजन राजस-तामस हैं; परन्तु मिष्टान्न खाने की कभी-कभी इच्छा हो तो वह निन्दनीय क्यों है? मिष्टान्न शारीरिक स्वास्थ्य के लिए क्या आवश्यक नहीं?

(छ) मिताहार तो ठीक है, कभी-कभी उपवास भी ज़रूरी है; परन्तु भरपेट भी खावे नहीं, चार रोटी की भूख हो तो दो रोटी ही खावे, यह कैसी सलाह है? स्वास्थ्य के लिए आवश्यक तत्त्व आवश्यक परिमाण में शरीर में पहुँचने ही चाहिएँ। रसना-संयम-सम्बन्धी हमारी कल्पनाएँ शरीर-विज्ञान-विरोधी तो नहीं, यह देखने का कष्ट करना ही चाहिए।

रसना-संयम-सम्बन्धी उपर्युक्त ग़लत धारणाओं से कुछ कम नुकसान नहीं पहुँचा है। जो ज़रा भी पेटू या चटोरा नहीं है, जो स्वास्थ्यवर्धक, रुचिकर और पौष्टिक भोजन प्रमाणसर लेता है, उसे भी उपर्युक्त धारणाओं के कारण, सदा शंका ही रहती है

कि उसकी रसना कहीं ग़लत दिशा में तो नहीं जा रही ? वह संयम के पुण्यपथ से कहीं विचलित तो नहीं हो रहा ? इत्यादि। वहुत ऊँची हाँकने से समाज में निराशा और अवसाद का वातावरण ही प्रस्तुत होता है।

रसना-असंयम की कसौटी

रसना के असंयम में वस्तुत: निम्न वातें आती हैं—

(क) स्वास्थ्य के लिए हानिकर अर्थात् राजस-तामस भोजनों के लिए लालसा रखना।

(ख) मन-पसंद खाना सामने आ जाय तो यह होश ही न रहना कि कितना खाना चाहिए।

(ग) पराया माल उड़ाने में न स्वास्थ्य का ख़याल रखना न स्वमान का।

(घ) दिन में कितनी ही वार खाना। जव भी खाने को मिल जाय खाने बैठ जाना।

(ङ) पठन-पाठन आदि अपना कार्य व व्यवसाय करते हुए भी चित्त का भोज्य पदार्थों की ओर वार-वार दौड़ जाना।

(च) पान आदि पदार्थों का कभी-कभी सेवन गृहस्थ के लिए पाप नहीं है, परन्तु पान इस हद तक खाना कि दाँतों की सफ़ेदी ही मर जाय, व्यसन ही है।

यदि उपर्युक्त वातों से हम वचते रहें, तो फिर घवराने की कोई वात नहीं। हम संयम के ठीक रास्ते पर हैं।

२२ मार्च, १९६४

: ३ :

समाज-सेवा ज़रूरी है ?

जीवन सेवा के लिए है, भोग के लिए नहीं।

—महात्मा गांधी

हमारे शास्त्रों ने समाज-सेवा (यज्ञ) को मनुष्य का प्रधान-तम कर्त्तव्य ठहराया है। यहाँ तक कि इसे मानव-जीवन का उद्देश्य ही कह दिया है। समाजसेवा प्रत्येक व्यक्ति के लिए निम्न कारणों से ज़रूरी है :—

(क) ऋण-मुक्ति के लिए

हम भारी कर्ज़दार हैं। जन्म-समय हम अत्यंत असहाय होते हैं। माता, पिता, भाई, बहन, सगे-सम्बन्धी आदि हमारे लिए, सैकड़ों कष्ट उठाते हैं। उनके वात्सल्यपूर्ण लालन-पालन का वर्षों तक लाभ उठाकर ही हम बड़े होते हैं।

बड़े होकर भी हम समाज पर अनेक प्रकार से आश्रित रहते हैं। हम जो कुछ भी सीखते हैं उसमें न जाने किस-किसका सह-योग होता है। अपने गुरुजनों, सहपाठियों, पड़ोसियों तथा महान् ग्रंथों के रूप में संस्कारों की विरासत छोड़ जाने वाले ऋषियों से कितना-कुछ ग्रहण कर ही हम विचार-समर्थ होते हैं। यही क्यों ? जीवित रहने के लिए ही हम असंख्य व्यक्तियों की सहायता लेते हैं। मनुष्यों तक ही हमारा क़र्ज़ा सीमित हो, यह बात भी नहीं। पशुओं से हम दूध लेते हैं, धरती से धान्य तथा वृक्षों से फल-फूल

आदि। यह सब लेकर ही जीवन-यात्रा आगे बढ़ती है। हमारी योजनाओं, उद्योगों तथा सफलताओं में भी कितनों का ही हाथ होता है। सहस्रों के स्नेहपूर्ण सहयोग तथा सहकार के साकार स्वरूप का नाम ही सिद्धि है।

किस-किसका कितना क़र्ज़ा है, इसकी पूर्ण कल्पना कौन कर सकेगा ? समाज के बहुत बड़े भाग का बहुत-सा ऋण है, बस। इस सारे ऋण को चुकाने का यथाशक्ति प्रयत्न हर किसी को करना है। ऋण चुकता होता है यज्ञ से—सेवा से—दूसरों की भरसक सहायता से। इसलिए समाज की सेवा करना—यज्ञ का अनुष्ठान करना मनुष्य का प्रथम कर्त्तव्य हो जाता है।

कृतघ्नी न बने

क़र्ज़ा चुकाए विना, दूसरे शब्दों में सेवा-सहायता (यज्ञ) किये बिना जो ऐश करता है, वह स्वार्थी और एहसानफ़रामोश है :—

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति। गीता ३.१६

समाज-सेवा में अपना यथायोग्य भाग अर्पण किये विना, जो भोगों के मज़े लूटता है, वह पापी है, उसका जीना न जीना वरावर है।

जिसका जीना बेकार है वह मनुष्य है, यह कहना मुश्किल है। 'काकोऽपि जीवति चिराय वलिं च भुङ्क्ते' जानवर मुख्यत्वेन अपने लिए जीता है। मनुष्य वह है जो दूसरों के लिए जीना जानता है :—

यस्मिन् जीवति जीवन्ति बहवः स तु जीवति।
काकोऽपि किं न कुरुते चञ्च्वा सोदरपूर्णम्॥

अपना पेट तो कौआ भी भर लेता है। यह कौन बड़ी वात है ! जीता तो असल में वही है जो बहुतों को जिलाता है।

चोर न बनें

दूसरों के उपकार का बदला न चुकानेवाले समाजद्रोहियों के लिए गीता ने अत्यधिक कठोर शब्दों का प्रयोग किया है :—

तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः । ३-१२

देवों (भूतमात्र) के सहकार-सहयोग से प्राप्त हुए नानाविध भोग, उनका बदला चुकाए बिना (समाज-सेवा किये बिना), जो भोगता है वह अवश्य चोर है।

चोर के दिल में चैन कहाँ ? समाज में उसकी प्रतिष्ठा भले ही कुछ काल हो जाय, आत्म-सम्मान (Self-respect) का सुख वह सब काल के लिए खो बैठता है। इस महान् हानि को आत्मघात ही कहना होगा।

ऐश्वर्य का उपभोग करना पाप है, यह तो झूठी मान्यता है। पाप तो दूसरों को खिलाए बिना सब-कुछ स्वयं हड़प जाने में है :—

भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् । ३.१३

स्वार्थ से बढ़कर कोई पाप नहीं। जो अपने लिए ही पकाते हैं, गीता के शब्दों में वे पक्के स्वार्थी हैं। वे केवल पाप ही खाते हैं।

(ख) आनन्द के लिए

समाज-सेवा द्वारा ऋण-मुक्ति का जो अपार आत्म-संतोष होता है वह अवर्णनीय है। जीवन का यही अमूल्य धन है। आनंद-प्राप्ति का यह सरल-सीधा मार्ग है :—

सन्तोषामृततृप्तानां यत्सुखं शांतचेतसाम्,
कुतस्तत् धनलुब्धानां इतश्चेतश्च धावताम् ।

सरल-सीधा मार्ग छोड़कर, टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडियों में हम यों ही भटकते-फिरते हैं और क़ीमती समय-शक्ति को बेकार करते हैं।

ऋणमुक्ति के आनन्द की झाँकी कालिदास के निम्न शब्दों में मिलती है :—

जातो ममाऽयं विशदः प्रकामं प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा । शाकुन्तल

'अमानत सौंपकर मेरी अन्तरात्मा असीम स्वच्छता व प्रसन्नता अनुभव कर रही है ।' यह प्रसन्नता वही प्राप्त करता है, जो समाज-सेवा में जीवन अर्पण करता है ।

(ग) निर्मल जीवन के लिए

यों कह सकते हैं कि समाज-सेवा-(यज्ञ-अनुष्ठान)-परायण अपना जीवन-कार्य पा लेता है । अपने-आपमें यह महान् कृतार्थता है । जीवन-यात्रा की जिसे दिशा नहीं मिल रही, वह व्यर्थ भटकता फिरता है । परन्तु सेवा-परायण अपने क़दम मंज़िल की ओर दृढ़ता से बढ़ाता है । उसके शरीर, मन तथा बुद्धि की सब शक्तियाँ कार्यसिद्धि में सुनियोजित हो जाती हैं । आयु अल्प है, कार्य महान् । इसलिए व्यर्थ की बातों में समय बिगाड़ने व शक्ति खर्च करने का उसे अवकाश ही नहीं होता ।

खाली दिमाग़ शैतान का घर होता है । जिसके जीवन का कार्यक्रम नियत हो चुका, उसके सब व्यसन आप-से-आप छूट जाते हैं । फलस्वरूप जीवन स्वच्छ चादर जैसा निर्मल होने लगता है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः । गीता ३.१३

यज्ञशेष—दूसरों की सेवा-सहायता करके जो कुछ बच रहता है उसे खानेवाले लोग सब पापों से छूट जाते हैं ।

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ।। गीता १८.५

यज्ञ विद्वानों और बुद्धिमानों को भी पावन करने वाला है ।

एष ह वै यज्ञो योऽयं पवते । छान्दोग्य उपनिषद्

समाज-सेवा (यज्ञ) ही जीवन को निष्पाप और पवित्र करनेवाली है । यही जीवन-साधना है, यही जीवन-सार्थक्य है ।

(घ) समाज में सुव्यवस्था के लिए

समाज-सेवा (यज्ञ) जहाँ व्यक्ति के जीवन का विकास करती है, वहाँ समाज में सुव्यवस्था और सौमनस्य की वृद्धि भी करती है। जिस देश में समाज-सेवा करनेवाले बहुतायत से होते हैं, वहाँ ऐसे धर्ममेघ का उदय होता है जिसकी मंगलवृष्टि से सर्वत्र हरियाली छा जाती है। स्वार्थी वैर-विरोध और विषमता उत्पन्न करता है, सेवा-परायण सर्वत्र सद्भाव और समानता। वह वातावरण विषैला बनाता है, यह शान्तिमय और सहानुभूतिपूर्ण। स्वार्थी ईर्ष्या-असूया को जन्म देकर राष्ट्र की जड़ों को खोखला करता है, सेवा-परायण स्नेह और मैत्री की जलधार से उन्हें सिंचित कर मज़बूत बनाता है। स्वार्थी राष्ट्र को छिन्न-भिन्न करता है, सेवा-परायण संगठित और शक्तिशाली। सैकड़ों प्रस्ताव पास कीजिये या प्रतिज्ञाएँ दुहराइये, जब तक बेहद बढ़ते हुए स्वार्थ को सुशिक्षण आदि से सीमित नहीं किया जायगा, भावात्मक एकता का स्वप्न साकार न हो सकेगा।

(ङ) पृथिवी पर स्वर्ग के लिए

पृथिवी पर खाद्यान्न की कोई कमी नहीं है, परन्तु फिर भी करोड़ों लोग भूखे और नंगे हैं। संसार की सभ्यता और संस्कृति पर यह सबसे बड़ा कलंक है। हम तो आसानी से लिख गए कि करोड़ों लोग भूखे हैं, परन्तु भूख की पीड़ा कितनी भयंकर है, यह तो वही जानते हैं जो बेचारे तड़प-तड़पकर दम तोड़ने को लाचार होते हैं। हाय री स्वार्थान्धता !! मानव कितना निर्मम हो गया है ! सभ्यता के आवरण में वह कितनी पशुता छिपाए हुए है ! ग़रीबों के मुँह का कौर छीनने में भी उसे शर्म नहीं। एक ओर भोगों के संग्रह का ढेर है, दूसरी ओर भूख और पीड़ा। दुनिया का ध्यान इस विषमता की ओर न गया हो, यह बात नहीं। इलाज की चेष्टा हो रही है, परन्तु यह कहना होगा कि 'भूख-निवारण-दिवस' मना लेने से, यह कहीं बेहतर है कि भूखों

के पेट भरने के लिए, हर कोई मुट्ठी-भर अनाज रोज़ देना अपना पुनीत कर्त्तव्य समझे। यही तो यज्ञ (सेवा, धर्म) है जिसके अनुष्ठान की हमारे देश को विशेष आवश्यकता है।

दो-चार के किये कुछ बन नहीं सकता, यह ठीक है। बहुतों का सहयोग हो, हरेक अपनी आहुति देने को उद्यत हो; स्पर्धा, स्वार्थ में नहीं, सेवा और सहायता के कार्यों में होने लगे, तो पृथिवी पर स्वर्ग रचा जा सकता है। पशु-धर्म का स्थान मानव-धर्म ले ले, यह कौन बड़ी अपेक्षा है ?

११ अप्रैल, १९६४

: ४ :

समाज-सेवा का अधिकारी कौन ?

'प्रतिबध्नाति हि श्रेयः, पूज्यपूजाव्यतिक्रमः ।'

—कालिदास

ताजमहल होटल में, वम्वई प्रदेश के कांग्रेस कार्यकर्ताओं की मीटिंग होने लगे, तो समाज-सेवा का शौक किसे न चढ़ेगा ? आज़ादी से पहले, समाज-सेवकों को जव जेल जाना पड़ता था, गिने-चुने लोग ही आगे आते थे। आज विना वुलाए ही, समाज-सेवकों का जहाँ-तहाँ भीड़-भड़क्का है। सुख के दिनों में मित्र-मंडल लम्वा-चौड़ा हो ही जाता है।

समाज-सेवकों की भीड़

और काम; काम कुछ भी न हुआ, यह भला कैसे कहें ? हाँ, यह तो कहना ही होगा कि महात्मा गांधी के अनुयायियों में, सेवा की जो लगन थी वही लगन आज के समाज-सेवकों में होती, तो बहुत पहले ही देश की काया पलट चुकी होती। काया ज़रा भी पलटी नहीं, यह कहनेवाले को तो सिनिक (Cynic) या निराशावादी (Pessimist) ही कहा जायगा। हाँ, यह सच है कि परिवर्तन की गति इतनी धीमी है कि हर किसी को थकान उत्पन्न होती है।

परीक्षा कड़ी है ?

समाज-सेवकों की भरमार होते हुए भी, प्रगति के अतिशय मंद होने का मुख्य कारण यही है कि सेवा के क्षेत्र में, धक्का-मुक्की करनेवाले लोग घुस आये हैं, जो सेवा के बिल्कुल अधिकारी नहीं हैं। ऐसे लोग सत्ता पाकर अपना घर भरेंगे या सेवा करेंगे ? अधिकारी-अनधिकारी की जब कड़ी परीक्षा ही न हो, तब शासनतंत्र में सब ओर भयंकर भ्रष्टाचार तो होगा ही। कितनों के पास कौड़ी नहीं थी, आज उन्होंने कितनी ही कारें खरीद लीं और कोठियाँ बना ली हैं; बैठे-बैठे यह हिसाब, कयामत के दिन तक, लगाते रहिये। ऐसे-वैसे उपायों से, नन्दा जी, दो वर्ष में तो क्या २० वर्ष में भी, भ्रष्टाचार को दफना सकेंगे, ऐसी झूठी आशा कोई बना न बैठे, यही श्रेयस्कर है।[1] सदाचार समितियाँ, प्रांत-प्रांत में, भले ही संगठित हों, भ्रष्टाचार का भस्मासुर तो अपने पैर दिन-दिन खूब फैलाये चला जा रहा है। स्कूल और कॉलेज की परीक्षाओं में भी भस्मासुर के पैर प्रविष्ट हो चुके हैं, इससे अधिक भयंकर बात क्या होगी ?

दरअसल बात तो यह है कि प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में अधिकारी-अनधिकारी की परीक्षा का महत्त्व भुला दिया गया है। कठोर अनुशासन तो किनारे रह गया, देश-द्रोहियों को भी राजमहलों में दावतें दी जाने लगी हैं। दोस्त और दुश्मन तथा मेहमान और गुमराह में जब तमीज़ ही न रहे, तब अनेक क्षेत्रों में सैकड़ों समस्याएँ खड़ी होंगी ही।

प्राचीन नालन्दा युनिवर्सिटी में १० हज़ार विद्यार्थी शिक्षा पाते थे। परन्तु इनमें से एक-एक विद्यार्थी को, बुद्धि और हृदय की सम्पूर्ण परीक्षाओं के बाद ही, युनिवर्सिटी में प्रवेश मिलता था। परिणाम-स्वरूप युनिवर्सिटी का शिक्षण-स्तर अति उच्च था। आज उच्च शिक्षण की सुविधाएँ खूब बढ़ा दी गईं, फिर भी

---

१. श्री गुलजारीलाल नन्दा जी ने कभी ऐसा दावा किया था।

शिक्षण-स्तर गिरता ही गया है। इसलिए, क्योंकि जिस-जिसने फ़ीस भरी, उसे ही युनिवर्सिटी में, परीक्षा किये विना ही, भर लिया गया है। राजनैतिक क्षेत्र में, भ्रष्टाचार-भस्मासुर के दिन-ब-दिन बढ़ते जाने का भी यही मुख्य कारण है।

असली रोग

हमें तो लगता है कि नन्दा जी का निदान ही ग़लत है। असल में, भ्रष्टाचार असली रोग नहीं है, असली रोग तो यह है कि जिन्हें आगे जाना चाहिए था, वे वेचारे पीछे रहने को लाचार हैं, और जिन्हें पीछे ही रहना चाहिए था, वे पार्टीवाज़ी या इस या उस चालबाज़ी से, सबसे आगे दनदना रहे हैं। इस रोग का कुछ इलाज हो सके तो कहीं देश का कल्याण हो।

लोकशाही के नाम पर गुण (quality) की जगह संख्या (quantity) की पूजा हो, तो इसे भीड़शाही ही कहना चाहिए। पार्लियामेंट तथा राजसभा में लगभग १००० मेम्बरों (बहुत-से नाम के समाज-सेवकों) की भीड़भाड़ करने के स्थान पर यदि १०० ही सच्चे सेवक हों तो, हम तो मानते हैं, व्यर्थ का वाद-विवाद और वितण्डा कम हो और कामकाज कहीं अधिक हो; शासन के खर्च में करोड़ों की कमी हो, साथ ही तंत्र स्वच्छ और कार्यदक्ष भी हो।

परीक्षा कैसे हो ?

अधिकारी-अनधिकारी की परीक्षा का महत्त्व तो हर कोई स्वीकार करेगा ही, परन्तु प्रश्न यह है कि समाज-सेवा का अधिकारी कौन है, इसकी परीक्षा कैसे हो ? किसी के अन्तर् की बात कोई नहीं जान सकता, यह ठीक है। फिर भी व्यक्ति के आहार-विहार, आचार-विचार, साथ-संगाथ और क्रियाकलाप आदि के विचार से उसकी समाज-सेवा की योग्यता-अयोग्यता की बहुत-सी परीक्षा हो ही सकती है। गीता के १६वें अध्याय के

आरम्भ में, दैवी और आसुरी दो प्रकार के लोगों का विस्तार से वर्णन किया है। जिनमें दया, दान, अहिंसा, अद्रोह, क्षमा, सरलता, संयम, शुचिता आदि अनेक सामाजिक गुण हों वे दैवी कहे गये हैं। यह तो स्पष्ट है कि उपर्युक्त सामाजिक गुणों का जिन्होंने अपने जीवन में, शिक्षण तथा साधना आदि द्वारा, विकास किया हो, वे धार्मिक वृत्ति के (दैवी सम्पत्ति से युक्त) लोग ही समाज-सेवा के सच्चे अधिकारी हैं।

जिनमें दंभ, दर्प, क्रोध, कठोरता, हिंसा, द्रोह आदि सामाजिक दुर्गुण (आसुरी सम्पत्ति) हों, वे घर बैठने के लायक हैं। ऐसे लोग यदि समाज-सेवा के क्षेत्र में घुस आएँगे, तो वहाँ भी वे वैर-विरोध, क्लेश-कलह, टंटा-फसाद आदि अवश्य करेंगे। इस प्रकार गीता ने सज्जनों, दुर्जनों, समाज-सेवा के अधिकारियों का स्पष्ट भेद समझा दिया है। इससे लाभ न लिया जाय तो दोष अन्धे का ही होगा, दीपक का नहीं।

दुनिया बहुत बोलनेवाले को समाज-सेवा का अधिकारी भले ही कहती हो, हम तो कम बोलनेवाले या मौन रहनेवाले को अधिक अधिकारी मानते हैं। इसी प्रकार जिसकी अक्ल खूब बढ़ी-चढ़ी हो वह नहीं, परन्तु जिसका दिल ठीक ठिकाने हो, वह असल में अधिकारी है। दुनिया की और हमारी नज़रों में आकाश-पाताल का अन्तर प्रतीत होता है। इसीलिए नीचे की कुछ पंक्तियों में, विषय को अधिक स्पष्ट करने के निमित्त से, अपना दृष्टि-बिन्दु प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।

(१) शुद्ध आहार

समाज-सेवा के योग्य होने के लिए आहार शुद्ध होना अत्यावश्यक है। 'आहार-शुद्धौ सत्त्व-संशुद्धिः'—जैसा अन्न वैसा मन, यह प्रसिद्ध कहावत है। वैसे तो आहार अत्यन्त तुच्छ बात प्रतीत होती है, परन्तु तुच्छ बातों से, बड़ी बातों का अन्दाज़ा

बहुत बार निकल आता है। जो आहार के विषय में ही संयम नहीं रख सकता, वह अन्य विषयों में संयम कैसे रख सकेगा ? पश्चिम के लोग मांस-मदिरा खूब उड़ाते हैं, इसलिए वही शुद्ध आहार है, यह मान लेना मूर्खता है। अपने देश और संस्कृति को आगे बढ़ाने का विचार हर किसी को होना चाहिए। शुद्ध-सात्त्विक आहार की परख निम्न है—

सात्त्विक आहार—

आयुः - सत्त्वबलारोग्य - सुख-प्रीति-विवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥ १७.८

राजस आहार—

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥ १७.९

तामस आहार—

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥ १७.१०

अपने देश की संस्कृति को आगे बढ़ाने का जिसे विचार हो वही समाज-सेवा का अधिकारी है।

(२) **प्रामाणिकता**

आहार सात्त्विक होना जरूरी है, परन्तु आहार-शुद्धि का अर्थ अधिक विस्तृत लेना होगा। प्रत्येक गृहस्थी को कुटुम्ब के भरणपोषण-निमित्त आजीविका कमानी ही पड़ती है। आजीविका यदि सचाई और ईमानदारी से नहीं कमाई गई, तो फिर केवल फल खाओ या दूध पर निर्वाह करो, तो भी आहार सात्त्विक नहीं कहा जा सकता। आन्तरिक शुचिता (प्रामाणिकता) न हो तो बाह्य शुद्धि का विशेष प्रयोजन रहता नहीं।

इसीलिए तो महाभारतकार ने कहा है, 'यो ह्यर्थशुचिः सः शुचिः'। धन के अर्जन में जो प्रामाणिक नहीं वह समाज-सेवा का बिल्कुल अधिकारी नहीं। वह घर बैठकर पहले पूर्ण प्रामाणिक बने, यही समाज-सेवा उससे अपेक्षित है।

(३) समाजमंगल की दृष्टि

'कुछ पैसे ज़्यादा मिल जाएँगे' इस आशा से शराब बेचना अथवा अफ़ीम की दूकान लगाना भी अर्थशुचिता नहीं। प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जिससे समाज का अकल्याण सिद्ध हो, जिससे सदाचार तथा कर्त्तव्यनिष्ठा में शिथिलता हो, वह सब व्यापार निषिद्ध है। समाजोपयोगी कार्यों द्वारा अर्जन की हुई आजीविका को ही शुचि कहना चाहिए। व्यापार करें या नौकरी करें, डॉक्टरी या वकालत से आजीविका अर्जन करें, समाजमंगल की दृष्टि प्रमुख होनी चाहिए। अफ़ीम बेचनेवाला प्रामाणिक हो सकता है, परन्तु इस प्रामाणिकता की कीमत क्या है, यदि समाज-हित धूल में मिलता हो। इसलिए कहना होगा कि पैसे (स्वार्थ) पर नहीं, समाजमंगल पर दृष्टि रखनेवाला ही समाज-सेवा (यज्ञ) का अधिकारी है।

(४) विलास नहीं

आहारशुद्धि के लिए यह विचार भी आवश्यक है कि आहार कितना हो। उचित मात्रा में आहार लेना ही हितावह है; आवश्यकता से अधिक आहार मृत्यु का कारण हो सकता है।

समाज-सेवा का यह अर्थ नहीं कि समाज-सेवक स्वास्थ्यप्रद भोजन खाए-पीए नहीं, साफ़-सुथरे वस्त्र पहने नहीं और खुले व विस्तृत घर में रहे नहीं। जीवन की आवश्यकताओं (necessities) को पूर्ण करने का व्यक्ति को हक है ही। इसके लिए जो भी खर्च किया जाता है वह यज्ञांग ही कहलाता है। परन्तु आत्मयोग की

सीमा है। आसपास लोग भूखे हों, और कोई रोज़-रोज़ हलवा-पूरी उड़ाए, यह कैसे चलता है ? देश कंगाल हो और मिनिस्टर लोग नई-नई मोटरों में फिरने का व वातानुकूलित (Air Conditioned) मकानों में रहने का आग्रह रखें, यह कैसे बन सकेगा ! ज़्यादा संग्रह चोरी है। आवश्यकता से अधिक खर्च विलास (Luxury) है। ट्रस्टी करकसर (मितव्ययिता) करेगा तभी वह दूसरों को खिला सकेगा। इन्द्रियाराम तथा विषयभोगी समाज-सेवा (यज्ञ) के अधिकारी नहीं हैं।

अपनी आमदनी का कम-से-कम एक प्रतिशत भाग जो ग़रीबों की सहायता के लिए, ईमानदारीपूर्वक, अलग रख देता है, वही समाज-सेवा (यज्ञ) में दीक्षा लेने का अधिकारी है। यह अभ्यास हर कोई शीघ्रातिशीघ्र शुरू कर सके, यह अतिशय इच्छनीय है।

(५) माँ का-सा प्रेम

माँ को अपने बाल-बच्चों से बेहद प्यार होता है। इस प्यार की वजह से, बाल-बच्चों के सुख के लिए, अपना सब-कुछ कुरबान करने के लिए वह तैयार रहती है। सवेरे से शाम तक दौड़ी फिरती है, फिर भी वह कोई थकान अनुभव नहीं करती। इस दौड़धप में ही वह आनन्द मानती है।

जिसके दिल में माँ का-सा प्यार नहीं, वह समाज की सच्ची सेवा नहीं कर सकता, मतलब सिद्ध करने के लिए वह दिखावा भले कर ले। परन्तु दिखावा तो दिखावा ही है। वह सेवा का रूप धारण नहीं कर सकता। "सेवा का मूल प्रेम है; वह प्रेम जो महासागर की तरह असीम होता है। जो सब सीमाओं और सरहदों को पार करके सारे जगत् पर छा जाता है।"

परिवार के प्रति प्रेम होना बुरा नहीं। पिता-पुत्र, पति-पत्नी

तथा भाई-बहन का प्रेम स्वर्गिक है। परन्तु प्रेम के चारों ओर दीवार खड़ी कर लेना ठीक नहीं। परिवार के बाहर भी हमें प्रेम का प्रसार करना है। पशु में और मनुष्य में बुनियादी अन्तर यही है कि पशु अपने बच्चों तथा अपने को खिलाने-पिलानेवालों को ही प्रेम कर सकता है, जबकि मनुष्य के हृदय में अपने परिजनों और पड़ोसियों से ही क्यों, प्राणिमात्र से भी प्रेम करने की जगह है। उस अन्तर को बढ़ाते जाने का नाम ही मानवता या संस्कृति है। पृथिवी के अनेक सन्तों ने अपने जीवन द्वारा यह सिद्ध किया है कि 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आदर्श असम्भव नहीं। इस आदर्श को प्राप्त करने के प्रयत्न को ही पुण्य कर्म कहिए, अथवा जीवन की साधना कहिए। जो इस साधना में तत्पर हैं वे ही समाज-सेवा के अधिकारी हैं।

(६) वैयक्तिक यज्ञ

इस साधना के लिए शास्त्रों में पाँच दैनिक (वैयक्तिक) यज्ञ (duties) करने का विधान है। इन यज्ञों से आत्मा का विस्तार होता है। प्राणिमात्र को आत्मीय समझने का अभ्यास होता है। ये यज्ञ निम्न हैं :—

(क) भूतयज्ञ—इस यज्ञ द्वारा अभागे मनुष्यों तथा पशु-पक्षियों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने का आदेश दिया गया है। प्रत्येक गृहस्थ को, भोजन से पहले ६ ग्रास, इन प्राणियों को उद्दिष्ट कर, अलग रख देने होते हैं। यह भूतयज्ञ कहलाता है। यह तो उपलक्षणमात्र है। वस्तुतः अड़ोस-पड़ोस के असहाय और भूखे प्राणियों की यथाशक्ति सहायता करना इसका उद्देश्य है।

(ख) अतिथियज्ञ—घर में आए हुए अतिथि को देव समझ-कर उसका यथायोग्य स्वागत-सत्कार कर तथा उसे खिला-पिलाकर स्वयं खाना अतिथियज्ञ है। अतिथि-सेवा का धर्म

मिटता जा रहा है, यह खेद की बात है। अतिथियज्ञ द्वारा यही सीखना था कि 'पहले दूसरे, फिर मैं।' यज्ञ की यही आत्मा है।

(ग) पितृयज्ञ—माता-पिता-आचार्य आदि पितर हैं। इनकी नित्य सेवा-सुश्रूषा करना तथा उन्हें श्रद्धापूर्वक खिला-पिलाकर स्वयं भोजन करना पितृयज्ञ है। पितरों के ऋण से मुक्त होने का यह प्रयत्न है, यद्यपि तावज्जीवन सेवा करते हुए भी माता-पिता के ऋण से उन्मुक्त कौन हो सका है ?

(घ) देवयज्ञ (अग्निहोत्र)—मनुष्य श्वास-प्रश्वास में तथा मलमूत्र के त्याग आदि से अपने आसपास के स्थानों में वेहद गन्दगी फैलाता है। इस सारी गन्दगी को दूर करने के लिए प्रातः-सायं अग्निहोत्र करने का विधान है। घृत और सामग्री की आहुतियों से वायु शुद्ध होती है। आसपास के स्थानों को साफ़-सुथरा करने के लिए जो प्रयत्न किये जाते हैं, उन्हें भी देव-यज्ञ कहना चाहिए।

(ङ) ब्रह्मयज्ञ—परमेश्वर के प्रेम, परोपकार, न्याय, दया आदि गुणों का ध्यान करना, सृष्टि में उन गुणों का अनुभव करना तथा तदनुसार अपने जीवन को प्रेममय, परोपकारपूर्ण, दयामय और न्यायपूर्ण बनाने का प्रयत्न करना ब्रह्मयज्ञ है। उपर्युक्त गुणों की पराकाष्ठा से ही पुरुष पुरुषोत्तम-सरूपता प्राप्त करता है।

उपर्युक्त यज्ञों को शास्त्रों में महायज्ञ कहा है। श्रद्धापूर्वक इन यज्ञों को प्रतिदिन करने से मनुष्य का प्रेम विस्तृत होता है। फलस्वरूप वह समाजसेवा (यज्ञ) करने का अधिकारी बनता है। जो गृहस्थ उपर्युक्त दैनिक कर्त्तव्यों का ठीक-ठीक पालन नहीं कर सकता, वह समाज-सेवा का अधिकारी नहीं।

समाज-सेवा की परमिट पर कण्ट्रोल

रघुवंश में महाकवि ने कहा है, जिस देश में पूज्यों की उपेक्षा

और अपूज्यों की पूजा होती है, उस देश का कल्याण होना मुश्किल है। अपने देश में कुछ ऐसा सिलसिला चल पड़ा है।

परमिटों और कण्ट्रोल का राज्य जल्दी खत्म हो, यह सब तरह से अभीष्ट है, परन्तु समाज-सेवा के परवाने पर कण्ट्रोल की सख़्त ज़रूरत है।

१६ अप्रैल, १९६४

: ५ :

समाज-सेवा

भक्ति के पुण्य देश में कैसे पहुँचे ?

'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।' १८.४६

अपने सेवा-कर्म से परमेश्वर की पूजा करके मनुष्य सिद्धि पाता है।

नोट की क़ीमत क़ागज़ की लम्बाई-चौड़ाई के अनुसार नहीं, परन्तु उस पर लगी मोहर के अनुसार १०, १०० या १००० रुपये होती है। ठीक उसी प्रकार किसी सेवाकार्य की क़ीमत उसके विस्तार, बाह्याडम्बर अथवा परिमाण आदि के हिसाब से नहीं, अपितु समाज-सेवा की आन्तरिक भावना की निर्मलता-अनिर्मलता के अनुसार ही आँकी जाती है। 'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगात् धनंजयः' (२.४९), 'कर्म की अपेक्षा बुद्धि ही श्रेष्ठ है', इत्यादि शब्दों में, इसी तत्त्व का प्रतिपादन है कि कर्त्ता की भली या बुरी बुद्धि (वासना, समझ, भावना, intention) के अनुसार ही कर्म शुभ अथवा अशुभ होता है। उपयोगितावाद (utilitarianism) के समर्थक मिल (Mill) महोदय का कथन है, 'Morality of the action depends entirely upon the intention, that is upon what the agent wills to do.'

कल्पना कीजिए, नदी में डूबते हुए किसी व्यक्ति को बचाने के लिए, दो आदमी जल में कूद पड़ते हैं। दोनों के सम्मिलित प्रयत्न से, डूबता व्यक्ति किनारे लग जाता है और उसकी जान

बच जाती है। दोनों व्यक्तियों का, यह जान बचाने का कर्म तो बिल्कुल एक-जैसा है; परन्तु इनमें से एक ने डूबते की जान बचाई है इस भावना (Intention) से कि डूबते को बचाना मनुष्य का धर्म है; और दूसरे ने इस भावना से कि उसका दुश्मन ऐसी आसानी से मर न जाय, अपितु उसे जेल भिजवाकर तिल-तिल करके उसकी जान ली जा सके। इस भावना-भेद से एक का कर्म श्रेष्ठ सेवा है, दूसरे का द्रोह या प्रतिशोध। भाव यह कि भावना की शुद्धता-अशुद्धता के अनुसार ही, सेवा-कार्य की उच्चता-नीचता नियत होती है।

समाज-सेवा कठिन है ?

समाज-सेवा करना तो कुछ भी कठिन नहीं है। सैकड़ों आदमी समाज-सेवा करते ही हैं, क्योंकि इससे वाहवाही मिलती है, सत्ता और सफलता मिलती है, समाज में प्रतिष्ठा और कीर्ति स्थापित होती है। कीर्ति बड़ी वस्तु है। करोड़ों रुपयों के दान से कीर्ति मिल जाती हो, तो सौदा सौ-सौ बार करने योग्य है; क्योंकि 'कीर्तिर्यस्य स जीवति'—जीता असल में वही है जो कीर्ति हासिल करता है। 'संभावितस्य चाकीर्तिः मरणादतिरिच्यते'—बिना कीर्ति के जो जीता है, वह जीता हुआ भी मरा हुआ ही है। जिसकी कीर्ति अखण्ड है वह मरकर भी जीता है। अमरता (मोक्ष) है ही क्या ? मर करके भी न मरने का नाम अमरता है। जिसके सुन्दर कृत्यों को आगे आनेवाली पीढ़ियाँ श्रद्धा से याद करती हैं वह मरा ही कहाँ है ? जन-जन के हृदय में जो बस गया वह अमर ही है। श्रेष्ठतम साहित्य-सृजन, ज्ञान-विज्ञान-संशोधन तथा शांति-स्थापना आदि महिमाशाली कृतियों को प्रतिवर्ष पुरस्कृत करने के लिए करोड़ों रुपयों के नोबेल पुरस्कार की जो सौभाग्यशाली स्थापना कर गया, वह क्या सैकड़ों वर्षों में भी मर सकेगा ? उसे अमर ही कहिए। ऐसे यशस्वी कार्यों के लिए ही ज़िन्दगी मिली है।

कीर्ति-कामना

कीर्ति के लिए समाज-सेवा करना कुछ कम पुण्यशाली नहीं, यह उपर्युक्त विवेचन से विदित होता है। इन्सान इतना ही कर सके तब भी वहुत है। कीर्ति की कामना को बदनाम करना तो धर्मध्वजीपन है। बदनाम वे करते हैं जो अभी पृथिवी पर ही रींगते हैं। लोमड़ी के हाथ अंगूर नहीं लगते, तो वह उन्हें खट्टा ही कहेगी। परन्तु उसके कहने से वे खट्टे नहीं हो जाते। कीर्ति की क़ीमत उन रस-सिद्ध कवीश्वरों से पूछनी चाहिए जो जीवन-रक्त से 'काव्य-यशसे' अपनी अमर कृति की रचना करते हैं।

कर्त्तव्यनिष्ठा

सच ही कहा है 'Fame is the last infirmity of man.' यदि कोई इन्सान कीर्ति-कामना छोड़ सके और केवल कर्त्तव्य-भावना से समाज-सेवा के कार्य कर सके, तव तो वह इन्सान नहीं, देव होगा। उस अवस्था में उसका समाजसेवा-कार्य भक्ति की परिधि या पुण्यदेश में पहुँच जाता है। ऐसा होना असम्भव नहीं। इन्सान देव वन ही सकता है। सहस्रों भक्तों ने स्वजीवन से यह सिद्ध किया है।

महाभारतकार ने, सोने के नेवले की कथा द्वारा, युधिष्ठिर के अश्वमेध यज्ञ की अपेक्षा, एक अतिथि की क्षुधानिवृत्ति के लिए ग़रीब ब्राह्मण-परिवार के प्राणार्पण को, अधिक महान् यज्ञ माना है। क्योंकि महाराज युधिष्ठिर का सेवाकार्य, कीर्ति-कामना के लिए था, जबकि गुमनाम ब्राह्मण का सेवाकार्य कर्त्तव्यनिष्ठा से प्रेरित था। गीता के शब्दों में—

> अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
> इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्॥ १७.१२

बदले में किसी लाभ आदि की आशा से तथा दिखावे आदि

के लिए किया हुआ यज्ञ (सेवाकार्य) राजस कहाता है। जबकि 'यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः'—यज्ञ करना परम कर्त्तव्य है, मन में ऐसा दृढ़ निश्चय लेकर जो यज्ञ (सेवाकार्य) किया जाता है वह शुद्ध सात्त्विक या भक्ति कोटि का कहलाता है, 'work is workship' का यही अर्थ है।

छोटे से बड़े होते-होते तथा समझदार व लायक बनते-बनते, हमने न जाने किस-किसकी कितनी सेवा और सहायता ली है। यही नहीं, जब तक जीते हैं, समाज में सैकड़ों लाभ लिये ही जाते हैं। इन सबका बदला चुकाना हमारा परम कर्त्तव्य है। असहाय अवस्था में जिन्होंने हमारी सहायता की, जिन्हें अपनी असहाय अवस्था में अब हमारी सेवा की ज़रूरत है, उनकी सेवा न करना असीम कृतघ्नता है। कृतघ्नता ऐसा महापाप है जिसका शास्त्र कोई प्रायश्चित्त नहीं बता सके हैं। इस सबका जो विचार करेगा, उसका कर्त्तव्यबुद्धि से सेवाकार्य में प्रवृत्त होना, कौन कठिन है ?

जिसमें कर्त्तव्यबुद्धि जागृत नहीं हुई, वह अपने घर-गृहस्थी के कामकाज में जुटा रहे, यही बेहतर है।

नम्रता

सेवा करते हुए, एहसान जताने की क्या ज़रूरत है ? सेवामय जीवन में नम्रता होनी चाहिए। अहंकार सेवा को शून्यवत् बना देता है। श्री विनोबाजी का निम्न फार्मूला, इस सम्बन्ध में सतत स्मरण रखने योग्य है—

$$\frac{\text{सेवा}}{\text{अहंकार}} = \text{भक्ति}$$

अहंकार जितना कम होगा, सेवा-कार्य उतना ही पुण्यशाली

होगा। अहंकार के अभाव में समाज-सेवा का कार्य ही भक्ति बन जाता है।

फिर समाज-सेवक के दिल में अहंकार हो ही क्यों? वह कौन-सा बड़ा काम कर रहा है! सच पूछो तो वह अपना फ़र्ज़ ही अदा कर रहा है या अपना कर्त्तव्य ही निभा रहा है। यह सच है कि क़र्ज़ अदा न करना महापाप है, परन्तु क़र्ज़ चुकता कर देने में तो कोई बड़े पुण्य की बात नहीं। यह तो इन्सान का फ़र्ज़ है।

सगे-सम्बन्धियों तथा समाज का हम पर जो बोझ है, उससे किसी भी समझदार का माथा आप-से-आप नम जाना चाहिए। जीवन-भर सेवा करते-करते भी, इस ऋण से ठीक-ठीक उऋण हम शायद ही हो सकें, यह कल्पना भी सेवापरायण को अत्यन्त नम्र होने के लिए प्रेरित करती है। समाज-सेवा के कार्य (यज्ञ) के साथ, नम्रता की भावना होना अत्यन्त ज़रूरी है, इसी दृष्टि से यजुर्वेद में 'यज्ञो वै नमः' यज्ञ को नम्रता ही कह दिया है।

निष्कामता

जब किसी बदले की आशा से सेवा की जाती है तो असल में वह सौदा ही होती है। शुद्ध सात्त्विक सेवा (भक्ति) तो 'अफलकांक्षिभिः' निष्काम और निरीह व्यक्तियों द्वारा ही निष्पन्न होती है। फल तो हम पहले ही ले चुके हैं, फिर और किसी फल की इच्छा करना, अनुचित लोभ-लालच ही है। समाज-सेवा ऋण-मुक्ति के लिए ही है। हम समाजद्रोही न बनें, इसलिए सेवा करनी है। हम पाप न खाएँ, 'भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्' हमारे भोग खून से लथपथ न हों, इसलिए समाज-सेवा है। चोरी का शूल, अन्तःकरण की शांति को सब काल के लिए भंग न कर दे, इसलिए समाज-सेवा है। ऐसी अवस्था में, जो सेवा से मन-

चाहे फल पाने की लालसा करते हैं, उन्हें भगवान् ने अनार्य व अनुदार कहा है—

"कृपणाः फलहेतवः"

उत्साह

फल की लालसा न होते हुए भी समाजसेवा के कार्य में उत्साह होना ज़रूरी है। टंटा करने के लिए जो सेवा की जाती है, उसमें बरकत आना मुश्किल है। जिस क्रिया में बरकत नहीं, जो उत्कृष्ट फलोत्पत्ति में समर्थ नहीं, उसे सात्त्विक (भक्ति) नहीं कहा जा सकता। समाजसेवा-कार्य (यज्ञ) में सकामता न हो तो भी उससे उत्कृष्ट फल तो मिलना ही चाहिए। निष्फलता निशानी है विधिहीनता की, मन के बराबर योग न होने की, उत्साह-हीनता की; दूसरे शब्दों में यज्ञ के तामस होने की—

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १७.१३

फल की अपेक्षा के विना उत्साह कैसे हो? उत्साह केवल फल की ममता से ही नहीं, कर्म की भावना से भी उत्पन्न होता है; वह भी तो वस्तुतः लोभ का प्रच्छन्न रूप ही होता है। इस लोभ से हाथ-पैर काँपते हैं तथा बुद्धि की तीक्ष्णता जाती रहती है। परिणामतः कर्म में आवश्यक दक्षता आती नहीं। भाग-दौड़ भले सौ गुना बढ़ जाती हो, सफलता हाथ कम ही लगती है।

इसके विपरीत कर्त्तव्य-भावना से उत्पन्न उत्साह ही सच्चा उत्साह होता है। इसके लिए मनुष्य की कर्त्तव्यबुद्धि विकसित करने की आवश्यकता अवश्य रहती है। जिनकी कर्त्तव्यबुद्धि विकसित होती है वे कर्मण्य कहलाते हैं। कर्मण्य लोगों को सेवा और सहायता के कार्य ही फलस्वरूप लगने लगते हैं। इसलिए

लोकोपकारी कर्मों की ओर, वे उसी उत्साह-उमंग से प्रवृत्त होते हैं, जिस उत्साह-उमंग से फललोभी फल की ओर लपकते हैं।

उत्साहपूर्ण हो तो कर्म में सफलता मिलनी ही चाहिए। कवि ने कहा है :—

यत्रोत्साहसमारंभो यत्रालस्यविहीनता।
नय-विक्रमसंयोगः तत्र श्रीरचला ध्रुवम् ॥

Experience shows that success is due less to ability than to zeal. The winner is he who gives himself to his work body and Soul.

Charles Buxton

यज्ञ का फल

चित्तशुद्धि—समाज-सेवा (यज्ञ) भोग की इच्छा मर्यादा में रखती है। यही तो धर्म है। जीवन निष्पाप इसी से बनता है।

समाज-सेवा (यज्ञ) से शरीर, मन तथा बुद्धि की सर्वशक्तियों का सत्कर्म में सदुपयोग होता है। इस सदुपयोग से शुभ संस्कारों का उदय होता है। दूषित विचारों तथा वासनाओं (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि वासनाओं के विभिन्न रूपों) का शनैः-शनैः क्षय होता है। इस सबसे चित्त शुद्ध होता है।

चित्त की सम्पूर्ण शुद्धि का नाम ही मोक्ष है। इस मोक्ष से दुःख-शोकादि की अत्यंत निवृत्ति होती है—

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।

ब्रह्मरूपता—यही नहीं, दूसरों के दुःख-सुख में एकरूप होते-होते, सेवापरायण व्यक्ति की आत्मा विशाल से विशालतर होती जाती है। विशालतम (बृहत्तम) आत्मा को ब्रह्मरूप कहना

चाहिए। जीवन की यही धन्यता है। इसी कृतार्थता का वर्णन निम्न शब्दों में है :—

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ।।—गीता ४.३१

जो अयज्ञ है—सेवा-धर्म छोड़कर सुख-चैन और मौज-मज़े उड़ाने में पड़ा है—उसका यह लोक भी बिगड़ता है, परलोक भी। वह न सच्चा आनन्द पाता है न चित्त की अनुपम शान्ति; न प्रेम न प्रतिष्ठा; न अभ्युदय और न अमरत्व।

२० अप्रैल, १९६४

: ६ :

समाज-सेवा की दीक्षा

समाज-सेवा (यज्ञ) में दीक्षित होने के लिए कुछ अति सरल परन्तु अति महत्त्वपूर्ण निर्देश नीचे किये गए हैं। श्रेयार्थी के लिए आवश्यक है कि वह—

१—परिवार के सब सदस्यों के साथ ऐसा व्यवहार करे कि उन्हें प्रेम का सबूत मिले।

२—घर के सेवकों के प्रति अपनत्व रखे। उनपर काम का बोझ बहुत लादे नहीं। जितना हो सके शरीर-श्रम स्वयं करे।

३—पड़ोसियों के सुख-दु:ख में भागीदार हो।

४—प्रतिदिन दूसरों की भलाई का कोई-न-कोई काम अवश्य करे।

५—आमदनी का एक प्रतिशत भाग ग़रीबों की सहायता में अवश्य खर्च करे।

६—आमदनी-कर (Income Tax) देने में किसी प्रकार की चोरी न करे।

७—वस्तुओं का संग्रह कम-से-कम करे।

८—करकसर (मितव्ययता) तथा सादगी को जीवन का ध्येय समझे।

९—अपने उपयोग की वस्तु कोई माँगने आवे तो खुशी-खुशी देने का प्रयत्न करे।

१०—घर में आए का यथायोग्य स्वागत-सत्कार करे।

११—अपना धंधा अधिक-से-अधिक प्रामाणिकता से करे। दृष्टि शनैः-शनैः पैसे से हटाकर समाज की सेवा पर केन्द्रित करे।

१२—नगर में चलती समाज-सेवा तथा कल्याणकारी प्रवृत्तियों में यथाशक्ति सहयोग दे।

१३—प्रशंसायोग्य कार्यों की प्रशंसा में ज़रा भी कंजूसी न दिखावे।

१४—व्यवहार में मृदुता रखे। मन में दुःख उत्पन्न हो—ऐसी न वाणी बोले न विचार करे।

१५—पीछे-पीछे निन्दा न करे; भले चुप रहे।

१६—प्रतिदिन प्रातः-सायं परीक्षा करे कि उपर्युक्त निर्देशों का कहाँ तक पालन हो सका है। त्रुटियों को दूर करता चले।

प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः।
किन्नु मे पशुभिस्तुल्यं किन्नु सत्पुरुषैरिति॥

२१ अप्रैल, १९६४

: ७ :

फल-त्याग की तीन मंज़िलें

मनुस्मृति में कहा है—'यद् यद् हि कुरुते कर्म, तत् तत् कामस्य चेष्टितम्'—मनुष्य विभिन्न कर्मों में किसी हेतु अथवा उद्देश्य को सिद्ध करने के लिए ही प्रवृत्त होता है। मैं यदि अपने बगीचे के पौधों को पानी देता हूँ, तो इसी इच्छा से कि वे यथासमय पुष्पों से भर जाएँ और स्थान को सुशोभित करें। इसी प्रकार यदि मैं अपने फलों के वृक्षों में खाद डालता हूँ, तो इसी आशा से कि उनके फल खूब रसीले हों। फल व फूल की इच्छा के बिना वृक्षों में खाद डालने, झाड़झंखाड़ उखाड़ने, बाड़ लगाने आदि क्रियाओं में, कोई भी प्रवृत्त नहीं हो सकता। जंगल के बबूल को कौन सींचने जाता है? यदि कोई सींचने लगे तो उसे पागल ही समझा जायगा।

व्यायाम के उद्देश्य से हाथ-पैर हिलाना तो ठीक है, परन्तु यदि कोई बात करते यों ही हाथ-पैर हिलाने लगे तो उसे क्या समझा जायगा? तात्पर्य यह कि निरुद्देश्य क्रिया पागलपन ही है।

फल का विचार

फल-त्याग का अर्थ, निरुद्देश्य क्रिया बिलकुल नहीं है। इतना ही नहीं, फल व परिणाम का पूर्णरूप से विचार करना तथा उस फल को प्राप्त करने के लिए सोच-समझपूर्वक सम्पूर्ण योजना बनाना भी आवश्यक है। इसके बिना कर्म अस्तव्यस्त और अव्यवस्थित ही रहता है। उसमें वाञ्छित कुशलता, समग्रता

और सुभगता आती ही नहीं। महात्मा गांधी जी ने ठीक ही लिखा है :—

"फल-त्याग का यह अर्थ नहीं है कि परिणाम के सम्बन्ध में लापरवाही रहे। परिणाम और साधन का विचार और उसका ज्ञान अत्यावश्यक है। इतना होने के बाद जो मनुष्य परिणाम की इच्छा किये बिना, साधन में तन्मय रहता है वह फल-त्यागी है।" [अनासक्ति योग]

दो बातें अब बिल्कुल स्पष्ट हैं। प्रथम तो यह कि कर्म, किसी फल अथवा लक्ष्य को सिद्ध करने के लिए ही होता है। दूसरी यह कि कर्म में कुशलता और उत्कृष्टता लाने के लिए कर्त्ता को फल का तथा उस फल को सिद्ध करनेवाले साधनों के बलाबल का बराबर विचार करना चाहिए। ऐसी अवस्था में फल-त्याग का अर्थ क्या ? 'मा कर्मफलहेतुर्भूः'—'अमुक फल मिले, यह हेतु रखकर कर्म करनेवाला न हो' गीता के इस मुख्य उपदेश का तात्पर्य ही क्या ?

इच्छाओं के चार प्रकार

एक कर्म के अनेक फल होते हैं। उदाहरणार्थ पुस्तक-लेखन से जीवन-निर्वाहार्थ आवश्यक धन मिल सकता है, उसका नाम हो सकता है, उसे पीएच० डी० की उपाधि प्राप्त हो सकती है, लेखन का अथवा बुद्धि का विकास हो सकता है तथा ज्ञान के अंग-विशेष के विस्तार से समाज का कल्याण भी हो सकता है। इन सब फलों के मोटे रूप से चार विभाग हो सकते हैं—(क) जीवन-निर्वाह, (ख) भोगवृद्धि, (ग) आत्मोन्नति, तथा (घ) समाज-कल्याण। इन चतुर्विध फलों के अनुसार इच्छाएँ भी मुख्यत्वेन चार प्रकार की हैं—जीवननिर्वाह की इच्छा, भोगवृद्धि की इच्छा, आत्मोन्नति की इच्छा तथा समाज-कल्याण की इच्छा। इन इच्छाओं से प्रेरित हो हम विविध कर्मों में सामान्यरूप से प्रवृत्त होते हैं।

भोग-लालसा का त्याग

चार प्रकार के इन फलों में से भोगवृद्धि नामक फल श्रेयार्थी के लिए किसी प्रकार भी इष्ट नहीं है। इसलिए भोगवृद्धि की सब इच्छाओं या विलास-लालसाओं का दमन करने के लिए सभी धर्मशास्त्र एकस्वर में उपदेश करते हैं। भोग-विलास की लालसा का कोई अन्त नहीं। इसे यदि पनपने दिया जाय, तो सत्कर्म के विकास का अवकाश ही नहीं रहता। अथवा यों कहना चाहिए कि भोगेच्छा, बड़े-से-बड़े सत्कर्म को भी श्रीहीन बना देती है। उदाहरणार्थ—दान एक श्रेष्ठतम कर्म है। परन्तु वही दान, भोगवृद्धि के लिए अर्थात् नाम की इच्छा से, प्रतिस्पर्धी को नीचा दिखाने के लिए, अहंकार के पोषण अथवा व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए, किया जाय, तो उसका मूल्य कितना रह जाता है? समाज के लिए वह यत्किंचित् उपयोगी अवश्य होता है, परन्तु दाता की दृष्टि से वह एक सौदा या व्यापार-मात्र ही रह जाता है।

इस प्रकार भोग-लालसा सब सत्कर्मों के सौन्दर्य को, उसी प्रकार विकृत कर देती है, जिस प्रकार पंखुड़ियों में छिपा कोई कृमि-कीट पुष्प के सौन्दर्य को। इसलिए भोग-लालसा का त्याग श्रेयार्थी के लिए परम आवश्यक है। कहना यों चाहिए कि भोग-लालसा का त्याग फल-त्याग की प्रथम मंज़िल है।

प्राप्तव्य फल

अब रहे तीन फल—जीवन-निर्वाह, आत्मोन्नति और समाज-कल्याण। इन फलों को तथा इन्हें प्राप्त करने की इच्छाओं को निन्दनीय नहीं कहा जा सकता।

जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक साधन-सामग्री जुटाना प्रत्येक गृहस्थी का कर्त्तव्य है। ग़रीबी को 'बर्नार्ड शॉ' ने गुनाह ही गिना है। हमारे शास्त्रों को भी यह संमत ही है। इसलिए यदि हम जीवन-निर्वाहार्थ कृषि, वाणिज्य, व्यवसाय आदि

विविध उद्योग-धंधों या नौकरी आदि में प्रवृत्त होते हैं, तो यह कोई पाप नहीं, शर्म की बात नहीं, परन्तु आवश्यक कर्तव्य का पालन ही है।

स्वाध्याय, मौन, पूजापाठ, जपतप, व्यायाम, प्राणायाम आदि आत्मोन्नति के कार्य हैं। आत्मोन्नति प्रत्येक व्यक्ति का प्रथम कर्तव्य है। इसके बिना व्यक्ति समाज-कल्याण के लिए भी समर्थ नहीं होता। इसलिए आत्मोन्नति की इच्छा शुभ ही है।

समाज-कल्याण की भावना

समाज-कल्याण तो परम प्राप्तव्य फल है। संसार की सुख-वृद्धि तथा पृथिवी को स्वर्ग बनाने के लिए, समाज-कल्याण के कार्यों में सफल योग देना ही मानव-जीवन का परम पुरुषार्थ है। दान, अध्यापन, मन्दिर-निर्माण, धर्मशाला बनवाना, कुएँ खुदवाना, आदि समाज-कल्याण के कार्य, समाज-कल्याण की भावना से ही किये जायें तो सोने में सुगंध ही समझनी चाहिए। तात्पर्य यह कि समाज-कल्याण के फल की इच्छा परम शुभ है। गीता ने इस इच्छा को ही यज्ञार्थ भावना कहा है। यज्ञार्थ भावना, सेवा या लोकोपकार की भावना ही कर्म को अभिमंत्रित और मोक्ष-फलदायी बना देती है।

समाज-कल्याण के कार्यों के समान, जीवन-निर्वाह तथा आत्मोन्नति के कार्य भी यज्ञार्थ भावना से अभिमंत्रित तथा दिव्य बनाए जा सकते हैं। ज़रा दृष्टि का विस्तार अपेक्षित है।

एक शिक्षक, अपना अध्यापन का कार्य, जीवन-निर्वाहार्थ—वेतन की प्राप्ति के लिए—कर सकता है। वेतन की प्राप्ति के लिए, अपने कार्य को पूर्ण मनोयोग और उत्साह से करना, कुछ बुरा नहीं। परन्तु भावना की संकुचितता से इसमें आवश्यक दिव्यता नहीं है। यदि शिक्षक अपनी कल्पना के पंख फैला सके और पूर्ण सचाई से यह विश्वास कर सके कि राष्ट्र के बच्चों

के मानसिक विकास और चरित्र-निर्माण के महत्त्वपूर्ण समाजोपयोगी कार्य में संलग्न है, तो उसका कार्य कुछ और ही रूप धारण करने लगता है। जीवन-निर्वाह की संकुचित भावना, जितनी पृष्ठभूमि में पड़ती जाती है और समाज-कल्याण या यज्ञार्थ भावना जितनी ही स्पष्ट व प्रबल होती जाती है, उतना ही शिक्षक का कार्य अभिमंत्रित और दिव्य बनता जाता है। वह अब वेतन-भोगी शिक्षक नहीं, अपितु अपनी दृष्टि को शुद्ध और विशाल बनाकर, समाज का सच्चा सेवक बन जाता है। वेतन को सिर्फ वह साध्य न समझे, अपितु उसे विद्यादान के कार्य में समर्थ होने का साधन-मात्र समझे; भावना के इस भेद से शिक्षक का कार्य अब यज्ञरूप हो जाता है।

इसी प्रकार स्वाध्याय आदि आत्मोन्नति के कार्यों को करते हुए भी, यदि वह यह समझ सके कि वह समाज-सेवा के लिए आवश्यक पूर्व-तैयारी में संलग्न है, तो उसके वे सब कार्य अभिमंत्रित और दिव्य हो जाते हैं।

इस प्रकार जीवन-निर्वाह और आत्मोन्नति के कार्यों को भी, यज्ञार्थ भावना के संस्पर्श से अभिमन्त्रित करना अर्थात् उन्हें यज्ञ, पूजा व समाज-सेवा का रूप दे देना, गीता-प्रतिपादित फल-त्याग की दूसरी मंज़िल है।

समाज-कल्याण की भावना को अपनाते हुए भी व्यक्ति फल की प्रबल इच्छा कर सकता है। उसे अपने कार्य में सफलता मिले, उसके कार्य का अमुक फल अमुक परिमाण में आना ही चाहिए। इस प्रकार इच्छा, आशा व आग्रह वह रख सकता है।

फल का लोभ

'जिसका पेड़ उसी का फल' इस न्याय से कर्म करनेवाला फल का अधिकारी है। इस न्याय से अपने कर्म के फल की इच्छा करना, उसे लेने का आग्रह रखना ठीक भी हो सकता है। परन्तु गीता फल के सब अधिकार, आशा व आग्रह का त्याग करने की

सलाह देती है। फल की आशा, अपेक्षा व अधिकार आदि का स्वेच्छा से त्याग, फल-त्याग की तीसरी और अन्तिम मंज़िल है।

दृष्टि कर्तव्य पर

फल दूरस्थ है, कर्म हमारे सम्मुख उपस्थित होता है। इसलिए दृष्टि, सम्मुख उपस्थित कर्म ही पर जमानी उचित है। दूरस्थ फल का विचार तो ठीक है, परन्तु उस पर ही निगाह रखे रखना, ठोकर खाने की स्वयं तैयारी करना है। जिसे धरती पर चलना है, वह अपनी निगाह धरती पर न रखकर, आसमान की ओर ताकता रहे, तो वह अपने हाथ-पैर अवश्य तुड़वाकर ही रहेगा।

हम भारतवासियों ने, इस लोक पर और इस लोक के कर्तव्य पर दृष्टि न रखी। स्वर्ग की ओर हम ताकते रहे और परलोक की चिन्ता में डूबे रहे। परिणामतः हमने ठोकर खाई। हमारा यह लोक भी बिगड़ा और परलोक भी हाथ आया नहीं। दूरस्थ फल के ध्यान और सम्मुख उपस्थित कर्म की उपेक्षा के कारण हम हज़ार वर्षों से भी अधिक गुलाम रहे। सब-कुछ गँवा बैठे। धन गया, धर्म गया, ज्ञान गया, सर्वस्व गया। अज्ञान, ग़रीबी और रोग के हम शिकार हुए।

हमारी शक्ति सीमित है। उसे वर्तमान पर, सम्मुख उपस्थित कर्म पर केन्द्रित करना ही बुद्धिमानी है। भविष्य की व्यर्थ चिन्ता करते रहने से शक्ति क्षीण होती है और हम कायर बनते हैं। फल की आशा और अपेक्षा से कर्म की उपेक्षा होना स्वाभाविक है। इससे फल का समीप आना तो दूर रहा, उलटे वह दूर ही भागता है। इस प्रकार फल की आशा व अपेक्षा से कुछ लाभ तो है नहीं, नुकसान अवश्य है। इसलिए फल की चिन्ता छोड़ अपने कर्तव्य में तन्मय होना ही श्रेयस्कर है।

फल अनिश्चित

फल दूरस्थ ही नहीं, अनिश्चित भी है। उसका मिलना न मिलना यदि भगवान् पर नहीं तो कम-से-कम अनेक बाह्य परिस्थितियों पर अवलंबित है। ऐसे अनिश्चित फल की आशा व अपेक्षा मूर्खता ही नहीं, निराशा और दुःख का मूल भी है।

विद्यार्थी रात-दिन खूब पढ़ता है। इस पढ़ने से उसे ज्ञान प्राप्त होता है, विषय-विशेष में प्रवीणता आती है, उसकी योग्यता बढ़ती है, बुद्धि का विकास होता है, नवीन बात जानने का आनन्द प्राप्त होता है। स्वाध्याय के ये सब फल, विद्यार्थी की तत्परता के अनुसार, आप-से-आप मिलते जाते हैं। परन्तु यदि विद्यार्थी, बी० ए० आदि की परीक्षा में, प्रथम विभाग में भी प्रथम आने का फल प्राप्त करने की आशा भी साथ में सेवन करने लगे, तो संभव है पढ़ाई का उसका बहुत-सा आनंद ही उड़ जाये। इसके सिवाय प्रथम विभाग में प्रथम आने का फल, उसके अपने परिश्रम पर ही आश्रित नहीं है। धरती लम्बी-चौड़ी है। दूसरा कोई विद्यार्थी उससे अधिक मेधावी और अधिक परिश्रमी हो सकता है। परीक्षा के समय कितनी ही विपत्तियाँ भी आ सकती हैं। परीक्षा में प्रश्न, हो सकता है, अपनी आशा के अनुसार न आवें। परीक्षक के दृष्टिकोण में अन्तर होने से, सवालों के जवाब सही होने पर भी हो सकता है, उसे बराबर न जचें। इन सब अनेक कारणों से, अमुक फल की आशा और आग्रह से बहुत संभव यही है कि विद्यार्थी हताश हो और स्वाध्याय के प्रति उसका उत्साह हमेशा के लिए शिथिल व भग्न हो जाए। इस प्रकार अमुक फल की अपेक्षा निराशा ही का कारण है।

उपर्युक्त कारणों से ही गीता ने फल-त्याग की—मुझे अपने अमुक कर्म का अमुक फल, अमुक परिमाण में, अवश्य मिलना चाहिए—इस प्रकार की इच्छा व आशा के परित्याग की समुचित सलाह दी है।

फल की आशा जो छोड़ सके हैं, वे योगी ही जीवन में आनंद उठाते हैं और निर्भय विचरते हैं। इस प्रसंग में, भर्तृहरि ने आशारूपी भयंकर नदी का जो चित्र अंकित किया है वह दर्शनीय है :—

> आशा नाम नदी मनोरथजला तृष्णातरंगाकुला।
> रागग्राहवती वितर्कविहगा धैर्यद्रुमध्वंसिनी॥
> मोहावर्तसुदुस्तराऽतिगहना प्रोत्तुङ्गचिन्तातटी।
> तस्याः पारगताः विशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वराः॥

इस सुदुस्तर, अति गहन और आवर्तमयी विषम नदी में पड़कर कौन सुरक्षित रह सकता है ?

महाकवि कालिदास ने इसी स्वर में 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में कहा है :—

'मनोरथा नाम तटप्रपाताः'

आशाएँ नदी के किनारों के जल-प्रवाह में पड़ने के समान भंगुर हैं।

इसके अतिरिक्त कौन-सा फल किसे कब और किस परिमाण में मिलना, विश्व की दृष्टि से कल्याणकर है, यह निश्चित रूप से वही जानता है, जिसकी यह सृष्टि है। हमारी दृष्टि संकुचित है। हो सकता है, जिस फल को पाने का हम अतिशय आग्रह रखें, वह स्वयं हमारे लिए हितकर न हो, अथवा सृष्टितंत्र की दृष्टि से श्रेयस्कर न हो। ऐसी अवस्था में फल की सब इच्छाओं को भगवान् के हाथों में छोड़कर ही व्यक्ति निश्चिन्त और निर्भय हो सकता है।

कर्तव्य आनन्द से भरपूर है

फल-त्याग की तीसरी मंजिल पर पहुँचने में, उपर्युक्त विचार श्रेयार्थी को शायद सहायरूप हो सकते हैं। असल में अपने हाथ में लिये कर्तव्य के महत्त्व और सौन्दर्य को समझना

चाहिए। समाजोपयोगी प्रत्येक कर्म महत्त्वपूर्ण और अनन्त सौन्दर्य का समुद्र है। इस महत्त्व और सौंदर्य को हम जितना प्रत्यक्ष कर सकें, अपने कर्तव्य के प्रति उतनी ही अधिक प्रीति हममें उत्पन्न हो सकती है। उदाहरणार्थ पहली या दूसरी श्रेणी के बच्चों को पढ़ाना कितना मामूली-सा काम है! फिर उसमें कितनी सिर-दर्दी है! बच्चे शान्त होकर एक जगह बैठते ही नहीं, उनका मन भी जहाँ-तहाँ दौड़ता फिरता है। परन्तु इसी मामूली-से प्रतीत होने वाले कर्म को यदि हम सही दृष्टि से देखें—राष्ट्र को सुदृढ़ बनाने के लिए देश के बालकों को सुशिक्षा द्वारा प्रारम्भ में ही चरित्र-सम्पन्न बनाना कितना आवश्यक है यह भलीभाँति समझें—तो यही कर्म शिक्षक के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और आनंदपूर्ण बन सकता है। यदि अपने हाथ में लिये कर्मों को हम इसी प्रकार सही दृष्टि से देख सकें, तो अपने कर्तव्य के प्रति हमारी प्रीति दृढ़ होगी, तन्मयता बढ़ेगी। कर्तव्य के प्रति इस प्रीति और तन्मयता से, फल की ओर से दृष्टि हटने लगेगी, आसक्ति शिथिल होगी। यही तो फल-त्याग है! मानव-जीवन इसी महान् साधना से सुखी तथा सफल हो सकता है।

८ फरवरी, १९६१

: ८ :

फल अमानत है सवाल ईमानदारी का है

अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ।—गीता ५.१२

कामनाग्रस्त (भोगी) मनुष्य अपने कर्म का फल अपने पास रखकर बद्ध होता है।

उपनिषदों में एक कथा आती है—देव, मानव और दानव, एक दफ़ा प्रजापति के पास उपदेश लेने के लिए पहुँचे। ऋषि ने सबको एक ही उपदेश दिया—'द'। तीनों को एक अक्षर से अपने जीवन के अनुकूल आवश्यक उपदेश मिल गया। ऋषि ने देवों से पूछा—तुम उपदेश का अर्थ समझ गए? देवों ने कहा—हाँ जी, हम देव लोग कामी और विलासप्रिय हैं, इसलिए आपने हमें इन्द्रिय-दमन करने के लिए कहा है। ऋषि ने कहा—तुमने ठीक समझा है।

तब ऋषि ने मानवों से पूछा—तुम समझे? मानवों ने कहा—हाँ जी, हम मानव बड़े लोभी हैं, धन-संग्रह के पीछे पागल होकर पड़े हैं, इसलिए आपने हमें दान करने का उपदेश दिया है। ऋषि ने कहा—ठीक है, तुमने बराबर समझा।

फिर ऋषि ने दानवों से वही प्रश्न पूछा। दानवों ने कहा—हम दानव बड़े क्रूर और क्रोधी हैं। आपनें हमें दया करने को कहा है। ऋषि खुश हुए।

प्राचीन ऋषि कितना कम और सारगर्भित बोलते थे, यह इस छोटी-सी कथा से स्पष्ट है। परन्तु हमें जिस ओर ध्यान देना-दिलाना है, वह तो यह है कि मनुष्य में लोभ बेहद बढ़ चला है। ऐसा न हो कि बढ़ते-बढ़ते यह मनुष्यता को ही पीस डाले। यों भी कह लीजिए कि जो दान नहीं करता, वह मनुष्य कहाने योग्य ही नहीं है। ऋषि का शायद यह भी आशय हो।

अप्राप्त फल का लोभ

मनुष्य का फल-लोभ भी ग़ज़ब का है। जो फल अभी मिला ही नहीं, उसके लिए भी लोभ होना, क्या कुछ अजीब बात नहीं? लोभ भी इतना अधिक कि मनुष्य से वह छोड़ते ही नहीं बनता। दिन-रात इस या उस फल को पा लेने की चिन्ता में ही गुज़र जाते हैं। यह लूँगा, वह लूँगा, इसे जीता है, उसे जीतूँगा, मैं सुखी होऊँगा, मुझ-सा धनी कोई न रहेगा; न जाने क्या-क्या मनसूबे बाँधता फिरता है—

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥ १६.१३
असौ मया हतः शत्रुः हनिष्ये चापरानपि॥ १६.१४
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्ये इत्यज्ञान-विमोहिताः॥ १६.१५

लोभ और लालच की कोई हद है?

आज प्रातःकाल की बात है। हमने अपने आठ वर्ष के बालक किशोर को गणित के ५ सवाल कर लेने को कहा। वह आना-कानी करने लगा। तब हमने माली को कुछ जामुन तोड़ लाने को कहा। काले-काले जामुन, किशोर को दिखाए और कहा कि ५ सवाल जल्दी से कर लो, तो ये सब जामुन तुम्हें मिल जायेंगे। बड़े-बड़े और काले-काले जामुन देखकर किशोर ललचा गया। उसने कहा—जामुन मुझे पहले खा लेने दो, फिर मैं सवाल कर लूँगा। हमने कहा—'चलो ऐसा ही सही।' किशोर ने जामुन

खाए और कुछ समय बाद सवाल कर लाया। आज तो उसकी मेहरबानी ही हुई, उसने अपना करार पूरा किया। बहुत बार तो वह जामुन आदि फल, पहले खा जाता है और फिर सवाल नहीं करूँगा, जाओ नहीं करूँगा, ऐसा हँसते-हँसते कहते हुए इधर-उधर दौड़ जाता है।

किशोर से हम कम लोभी-लालची हों, ऐसा तो शायद नहीं है। हम भी फल पहले रख लेना चाहते हैं, या बहुत बार फल लेकर भी अपना कार्य करने को उद्यत नहीं होते। दूध तो मन-भर लेना चाहेंगे, गौ की सेवा धेला-भर भी नहीं करेंगे। इसी लालची स्वभाव का विचार कर समर्थ गुरु रामदास ने 'कार्यारंभ में देव (ईश्वर) का नाम लेना चाहिए' इस वाक्य का अर्थ किया है—कार्यारंभी देव, अर्थात् काम के शुरू में कुछ तो देव (दो)। भाव यह कि मनुष्य के लिए फल ही देव है और वह काम शुरू करने से पहले ही मिल जाय, तो वह खूब राज़ी होता है। बेहद लालच है!

फल नहीं, कर्म छोड़ने को तैयार

कर्म करके अपने कर्म का पूरा-पूरा फल लेने का हम लोभ रखें, यह समझ में आता है। किशोर की तरह फल पहले ही ले लें और फिर करार के अनुसार काम पूरा कर दें, यह भी समझ में आने जैसी बात है। परन्तु कर्म करें ही नहीं, और फल का लोभ रखें, यह कुछ ऐसी बात है जो दिमाग़ में कम ही बैठती है। भगवान् कृष्ण ने, लगभग आधी गीता यही समझाने में खर्च कर दी कि फल का लोभ छोड़ो। अनागत फल के लोभ छुड़ाने के लिए, इतना लम्बा-चौड़ा उपदेश करना पड़े, यह कुछ अजीब नहीं है! फिर भी हम हिन्दुस्तानियों के पल्ले कुछ पड़ गया हो, ऐसा दिखाई तो नहीं देता। फल का लोभ तो ज़रा भी छोड़ने को तैयार नहीं, हाँ, कर्म कैसे छोड़ दिया जाय, या छोड़ा न जा सके तो कम-से-कम कैसे किया जाय, यही दिन-रात

विचार करते हैं और योजना बनाते हैं। हम भूल जाते हैं कि कर्म ही जीवन की मुख्य साधना है। यही मनुष्य को ऊँचा उठानेवाला और विशुद्ध करनेवाला है। संक्षेप में कहिये कि हज़ारों मनुष्यों के लिए यही मोक्षदाता है।

प्राप्त फल के प्रति आसक्ति

जब अनागत फल के लिए, मनुष्य के मन में इतना लोभ और आग्रह है, तो फिर जो फल हाथ लग गया है उसके प्रति कितना अधिक लोभ और मोह बँध जाता होगा, यह कल्पना करना कठिन नहीं है। लोभ और मोह की दृढ़ता के कारण, हाथ आये हुए फल के त्याग या छोड़ देने की बात मनुष्य के दिमाग़ में बैठनी अत्यन्त कठिन ही है। एक दफ़ा महात्मा ईसा से, एक अमीर मनुष्य ने पूछा—अमर जीवन प्राप्त करने के लिए मुझे क्या करना चाहिए?

ईसा ने कहा—हिंसा, चोरी, व्यभिचार आदि कुकर्म का परित्याग करो; माता-पिता का सम्मान करो तथा पड़ोसियों से अपनों का-सा प्रेम करो, इत्यादि।

अमीर ने जवाब दिया—इन सब आदेशों का तो पहले से ही पालन कर रहा हूँ।

ईसा ने कहा—बहुत अच्छी बात है। तुम इतना और करो कि अपनी धन-सम्पत्ति ग़रीबों में बाँट दो और निश्चिन्त हो जाओ।

अमीर ने यह सुना और मुँह लटकाकर चलता बना। तब ईसा ने पास बैठे हुए अपने शिष्यों से कहा—

It is easier for a camel to go through the eye of a needle than for a rich man to enter into the kingdom of God.

अपने पुरुषार्थ से प्राप्त फल के प्रति दुनियादारों में कितना ममत्व होता है, यह उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट है। २००० वर्ष पूर्व की बात न कर आज की ही बात करना ठीक होगा। हमारे

देश में, यह अन्दाज़ा लगाया गया है कि, जितना आयकर (Income Tax) सरकारी खज़ाने में जमा होना चाहिए, उसका कुल ४० प्रतिशत ही जमा होता है। ६० प्रतिशत आयकर, हमारे देशवासी प्रतिवर्ष छिपा जाते हैं। जो लोग प्रभु-कृपा से बहुत-सा धन प्राप्त करते हैं, उन्हें तो अपने को वस्तुतः धन्य समझना चाहिए था कि वे देश की तन-मन से नहीं, तो कम-से-कम धन से तो थोड़ी-वहुत सेवा करते हैं। परन्तु नहीं, प्रसन्नता और अभिमान अनुभव करने के बजाय, वे ऐसे भी झींकते हैं और कायदे-कानून से जो देश का हिस्सा है, उसे उसके हवाले करने में भी आनाकानी करते हैं। प्राप्त फल के प्रति इतना भारी मोह है। पश्चिमी देशों में, जिन्हें हम भूल से भोगी मान बैठे हैं, शायद इतना भयंकर मोह नहीं है। फल-त्याग की फ़िलॉसफ़ी की जन्म-भूमि या आध्यात्मिक कहे जानेवाले देश में, ऐसे मोह का होना, क्या अफ़सोस की बात नहीं ?

फल (धन-सम्पत्ति) का ढेर जितना बढ़ता जाता है, लोभ उस से दस गुना अधिक बढ़ जाता है। लखपति करोड़पति होना चाहता है, करोड़पति अरबपति। हाय ! आदमी दरिद्र का दरिद्र ही रहता है ! वह दौड़ा फिरता है, कहीं शांति पाता नहीं। इस दुर्गति से बचाने के लिए ही फलत्याग की अचूक युक्ति प्रस्तुत की गई है।

जीवन-निर्वाह

फल-त्याग का अर्थ यह नहीं कि अपने पुरुषार्थ से जो कुछ फल प्राप्त हुआ है उसका स्वयं उपभोग करने का व्यक्ति को ज़रा भी हक नहीं है। शरीर को पुरुषार्थ और सेवा-योग्य रखने के लिए, फल के कुछ अंश का स्वयं ग्रहण तो करना ही होगा। जीवन-निर्वाह के लिए तथा कुटुम्ब के भरण-पोषण के लिए जो कुछ आवश्यक है, उसे गीता आहार कहती है। यह आहार यद्यपि स्वयं यज्ञ नहीं है, परन्तु यज्ञ सिद्ध करने का एक अंग अवश्य है।

इसलिए उसे यज्ञार्थ कहना चाहिए। यज्ञार्थ (सेवार्थ) ग्रहण किया हुआ आहार पवित्र ही है।

फलत्याग के नाम से अव्यावहारिक (Unrealistic) चर्चा करना, गीता का ज़रा भी मक़सद नहीं है। जीवन-विकास के लिए उसकी बनाई हुई युक्ति सर्वथा नवीन होते हुए भी एकदम व्यावहारिक है, इसलिए धार्मिक जगत् में गीता की इतनी प्रतिष्ठा है।

वैभव-विलास

आहार के नाम पर वैभव-विलास को यज्ञार्थ कहना, यज्ञ (समाज-सेवा) का उपहास ही होगा। ग़रीब देश में लगभग ४००-५०० रुपये मासिक बिजली-पानी पर खर्च करना, बादशाही महलों में रहना, बंगलों को वायु-अनुकूलित (Air conditioned) बनाने के लिए लाखों (६-७ लाख) रुपये खर्च करना, तथा लगभग २००० रुपये प्रतिमास प्रतिमिनिस्टर, प्रवास पर खर्चा करना इत्यादि, ऐसा सुखभोग और विलास है, जो समाज-सेवकों को ज़रा भी शोभा नहीं देता। यह आहार नहीं, खुल्लम-खुल्ला भोग-विलास है। अपने जीवन द्वारा जिन्हें सादगी और करकसर (मितव्ययता) का उदाहरण उपस्थित करना था, वे ही यदि भोग-विलास को बढ़ावा दें, तो देश में भ्रष्टाचार फैलकर ही रहेगा।

संस्कृति का सवाल

सर्वत्र भ्रष्टाचार फैलने की ही बात नहीं, समाज के अग्रणियों द्वारा, वैभव-विलास का उदाहरण रखना, संस्कृति के लिए मृत्युघट के समान है। भारतीय संस्कृति का लक्षण परिग्रह (बाह्य वस्तुओं का संग्रह घटाना) तथा विचार और इच्छापूर्वक आवश्यकताएँ जितनी भी हो सकें, कम करना ही है। सादगी तथा परिश्रमी जीवन हमारे आदर्श हैं। महात्माजी के शब्दों में—

"ज्यों-ज्यों परिग्रह घटाइये त्यों-त्यों सच्चा सुख और सच्चा सन्तोष बढ़ता है, सेवाशक्ति बढ़ती है।

"अभ्यास से मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को घटा सकता है, और ज्यों घटाता है, त्यों वह सुखी, शान्त और सब तरह से आरोग्यवान् होता है।"

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् जो सबसे पहले करने योग्य कार्य था, वह उपयुक्त जीवन-आदर्शों को जीवित करना था। कांग्रेस ने आज से ६०-६५ वर्ष पूर्व महात्मा जी के नेतृत्व में यह निर्णय किया था कि आज़ादी के बाद देश में न्यूनतम और अधिकतम वेतन का मापदण्ड ५० और ५०० क्रमशः होगा। हम नहीं कहते कि देश के राष्ट्रपति या प्रधान मंत्री को मासिक ५०० रुपये से अधिक नहीं मिलना चाहिए। बदले हुए समय और परिस्थितियों का विचार तो करना ही होगा। परन्तु कांग्रेस-प्रस्ताव में जो सिद्धान्त स्वीकृत किया गया है वह तो यही है कि परिग्रह और भोगों की एक सीमा निश्चित होनी चाहिए। यह सीमा व मर्यादा आज क्या होनी चाहिए, इसका निर्णय करना समाज के अग्रणियों का काम है। यह निर्णय करने के बजाय, बेहद भोगों की छूट देना भारतीय जीवन के मान्य आदर्शों और सिद्धान्तों का खून करने के समान है। मालूम होता है निष्ठा की कमी के कारण हम पश्चिमी विचारों के प्रवाह में बहे जा रहे हैं। हम भूल रहे हैं कि संस्कृति की मृत्यु बुलाकर किसी देश को जीवित नहीं किया जा सकता। भारत भारत ही नहीं रहे तो कैसे कहा जा सकता है कि भारत जीवित है? हाँ, भारत सचमुच इंग्लैंड बन जाय, तो भी हम शायद न रोवें। इंग्लैंड में खूबसूरती कम नहीं है। परन्तु भारत भारत भी न रहे, और इंग्लैंड भी न बन पाए तो? परधर्मो भयावहः।

अधिकतम भोगों की मर्यादा नियत कर देने का मूलभूत प्रश्न, अब भी देश के सम्मुख है। समाजवाद के सूत्रों के जब-तब निरर्थक उच्चारण से, यह कहीं बेहतर है कि निष्ठा और हिम्मत

से समाज के आधारभूत प्रश्न का हल किया जाय और सर्वोदय की स्थायी नींव रखने की ओर कदम बढ़ाया जाय। सौ मन बातों से कणभर आचरण कहीं अधिक कीमती है।

फल अमानत है

फलत्याग का अर्थ अपने पुरुषार्थ और प्रभुकृपा से प्राप्त फल को ईश्वर की अमानत समझकर वर्तना है। मात्र ट्रस्टी का भाव रखना और जो कुछ आवश्यकता से अधिक है, उससे ग़रजमन्दों की खुशी-खुशी सहायता करना, यही फलत्याग की फ़िलॉसफ़ी का रहस्य है। एक कुलीन गृहिणी जैसे किसी उत्तम पदार्थ का पहले स्वयं उपभोग नहीं करती, अपितु कुटुम्ब के सब सदस्यों को खिला-पिलाकर खाने में आनन्द मानती है, उसी प्रकार प्रभुकृपा से प्राप्त अमानत से, अपने आसपास के लोगों को यथाशक्ति सुखी करके आनन्द मनाना, फलत्याग है। अमानत का रक्षण सर्वप्रयत्न से करना आवश्यक है, यह तो ठीक है, परन्तु अमानत सँभालकर रखनेवाला कोई, यदि अहंकार या लोभ करे तो यह निरी मूर्खता होगी। अमानत लेनेवाला जब प्रस्तुत हो जाय, तो ट्रस्टी का काम यही है कि ज़रा भी लोभ या ममत्व बताये बिना, खुशी-खुशी अमानत सौंप दे।

फल सैकड़ों के सहयोग से

हमें मिला उत्कृष्ट फल या प्रभूत धन-संपत्ति, अमानत ही नहीं तो क्या है? इसे अपने पुरुषार्थ ही का फल मान लेना, मिथ्या अहंकार है। प्रभु के प्रसाद के बिना अथवा स्पष्ट शब्दों में कहो तो, अपने अड़ोस-पड़ोस के सैकड़ों सहयोगियों के सहकार के बिना किसी उत्कृष्ट कार्य में सिद्धि संभव है क्या? यदि नहीं तो यह स्पष्ट है कि हमें जो बहुत-सा फल मिल गया है, उसमें सैकड़ों व्यक्तियों का भाग है। जिसका जितना भाग है, उसे उतना सौंप देना ही ईमानदारी है।

सवाल ईमानदारी का है

किस-किसका कितना भाग, यह सब ठीक-ठीक निर्णय करना असंभव ही हो, तो सीधा-सरल रास्ता क्या यही नहीं है कि जो कोई दुःखी द्वार पर आ जाय अथवा अड़ोस-पड़ोस में जहाँ-कहीं कोई ग़रज़मंद दिखाई दे, उसे ही ज़रूरत के अनुसार, अमानत को सौंपने को तैयार रहने में मनुष्य ईमानदारी मान ले ? यह दान की वात नहीं है, ईमानदारी का सवाल है। देवों (प्रजाजनों) का भाग देवों को सौंप देने की वात है। पुण्य की नहीं, आवश्यक कर्त्तव्य की बात है। इसे दया नहीं, दयानतदारी कहिये। भगवान् के शब्दों में, इसे फलत्याग कह लीजिए।

फलत्याग से शान्ति

देवों का भाग देवों को सौंपने में न कुछ अहसान है, न उपकार है। इसलिए अहंकार बिल्कुल फ़िजूल है। लोभ और स्वार्थ की सब वातें बेईमानी या ख़यानत की वातें हैं। फलत्याग की फ़िलॉसफ़ी से दुनियादारों के दिल और दिमाग़ में यही बैठाना है। इतनी-सी वात हृदय में बैठ गई और स्वार्थ, लोभ व अहंकार आदि के बन्धन ढीले हो गए, तो फिर मुक्ति ही है। चित्त की अत्यन्त शुद्धि को अनामय नाम दीजिये या फिर अक्षय शांति कहिए :—

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ता पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ गीता २.५१

कर्म से उत्पन्न फल को सर्वभूतों के हित में अर्पण करके, मनीषी लोग सब दुःखों और क्लेशों से छूट जाते हैं। और भी—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्। गीता ५.१२

संयमी पुरुष, अपने कर्म का, धन-सम्पत्ति आदि फल समाज या सब प्राणियों के हित के लिए दान करके, पूर्ण शान्ति अनुभव करता है।

शास्त्रों ने कहा है—धन-सम्पत्ति जोड़ने के लिए अथवा भोग-विलास के लिए नहीं है। वह धर्म के लिए अर्थात् ग़रीबों और ग़रज़मन्दों में यथाशक्ति बाँट देने के लिए है और इस प्रकार उनका और अपना सुख बढ़ाने के लिए है—धनाद्धर्मस्ततः सुखम्।

धन-सम्पत्ति इस प्रकार सुख का बड़ा साधन हो सकता है। विपरीत इसके यदि इसे जोड़-जोड़कर अपनी तिजोरी भरी जाय, तो मनुष्य का हृदय भी तिजोरी में बन्द हो जाता है—

For where your treasure is, there will your heart be also.

—महात्मा ईसा

धन-सम्पत्ति के प्रति इस लोभ और प्रीति के प्रमाण में ही मनुष्य का हृदय संकुचित हो जाता है। वह अपने और अपने कुटुम्ब में बन्द हो जाता है। यदि धन-सम्पत्ति को अमानत समझते हुए, आस-पास के अड़ोसी-पड़ोसियों में, ग़रीबों और ग़रज़मंदों में विभक्त कर दिया जाये, तो शनैः-शनैः उन सबसे प्रीति बढ़ चलती है। कहा है न, जहाँ तिजोरी होगी वहीं हृदय होगा।

कहना यह है कि फल को अमानत मानें, तो वह प्रीति-विस्तार का बड़ा साधन बन जाता है। प्रीति-विस्तार का नाम ही हृदय-विकास या जीवन-विकास है। सच्चा सुख, जिसकी शोध सबको है, हृदय-विकास के साथ-साथ बढ़ता है—'यो वै भूया तत्सुखम्।' सम्पत्ति और सुख का अटूट सम्बन्ध हो, जैसा प्रायः समझ लिया जाता है, ऐसा बिलकुल नहीं। सुख का अटूट सम्बन्ध यदि किसी के साथ है, तो वह धर्म के साथ। धन धर्म के वर्धन में सहायक हो या न हो, यह धन के हाथ में है। जितने अंश में वह सहायक होगा, उतने अंश में वह सुख का साधन होगा। 'धनाद्धर्मस्ततः सुखम्' में इसी सत्य का प्रतिपादन है।

१२ जून, १९६४

: ६ :

इन्द्रिय-जय

"धर्म की जड़ ही संयम अथवा मर्यादा है। जो मनुष्य संयम का पालन नहीं करता, वह धर्म को क्या समझेगा ?"

—महात्माजी

महाकवि सूरदास जन्मान्ध न थे। अनुश्रुतियों के अनुसार वे युवावस्था में ही साधु हो गये थे। यमुना के किनारे वे भगवद्-भजन तथा ध्यान आदि में निमग्न रहा करते थे। उनका गौर वर्ण था, रूप अति लुभावना।

ग्राम और नगर की युवतियाँ भक्ति-भाव में उनके चरणों में प्रतिदिन प्रणाम किया करती थीं। वे निःस्पृह-भाव से सबकी ओर देखते थे, आशीर्वाद देते थे और भगवान् का नाम जपने लगते थे।

एक दिन वे एक तरुणी के रूप-लावण्य से बेतहाशा आकृष्ट हो उठे। वे आशीर्वाद दे चुके, परन्तु उनका मन भगवद्-भजन में लगता ही न था। उन्होंने बहुतेरी कोशिश की, आँखें ज़ोर से मूँद लीं, परन्तु दिल भाग निकला। आखिर वे ध्यान छोड़-छाड़कर उठे और तरुणी के पीछे-पीछे चल पड़े।

तरुणी घर पहुँची। साधु महात्मा को घर आया जानकर उसने अपना भाग्य सराहा। साधु से पूछा—क्या सेवा करूँ महाराज ?

महात्मा ने कहा—प्यास लगी है।

युवती जलकलश ले आई। पानी पिलाया, परन्तु प्यास बुझी नहीं। वे प्यासे नयनों से न जाने कितने क्षण तरुणी की ओर निहारते रहे। जब तन्द्रा भंग हुई, तब साधु की आँखें लज्जावनत थीं, वह पश्चात्ताप से भर-भर गया। उसने युवती से प्रार्थना की —दो तीक्ष्ण काँटे ले आओ।

युवती ने आज्ञा पालन की। साधु ने कहा—लो, इन तीक्ष्ण काँटों से मेरी काली आँखें फोड़ डालो! जिन आँखों की प्यास तुम्हारे लिए है, वे तुम्हें ही अर्पण हों।

युवती सहम उठी। साधु ने आँखें फोड़ लीं। तरुणी आश्चर्य से साधु की ओर ताकती ही रह गई।

इन्द्रियनाश नहीं

उपर्युक्त किंवदंती में यदि संन्यास हो, तो यह कहना होगा कि सूरदास का इन्द्रियनिग्रह का ढंग अनुकरणीय नहीं है। महात्मा ईसा ने अवश्य कहा है—

'And if thy right eye offend thee, pluck it out, and cast it from thee.

And if thy right hand offend thee, cut it off, and cast it from thee for it is profitable for thee that one of thy members should perish, and not that thy whole body should be cast-into hell.

यदि ईसा की सलाह मान ली जाय तो मनुष्य की एक भी इन्द्रिय शायद ही सही-सलामत रहे। एक इन्द्रिय तोड़-फोड़ दी जाय, तो दूसरी बची इन्द्रियाँ तूफान पर नहीं चढ़ेंगी, यह कौन कह सकता है? इन्द्रियों का तो स्वभाव ही ऐसा है कि यदि एक को दबाया जाय, तो दूसरी प्रबल होने लगती है। सभी इन्द्रियों को रोका जाय, तो मन बहुत उछलकूद करने लगता है, यह किस का अनुभव नहीं? किसी अनुभवी कवि ने ठीक कहा है :—

स्खलितः स्खलितोवध्यः इति चेन्निश्चितं भवेत्।
द्वित्रा यद्येव शिक्षेरन्, बहुदोषा हि मानवाः॥

जो-जो गुनाह करे, उसको यदि मार देना निश्चित हो जाय तो सारी धरती पर दो-तीन मनुष्य ही मुश्किल से बच रहेंगे, क्योंकि मनुष्य तो दोषों का पुतला है। मनुष्य की इन्द्रियों के सम्बन्ध में भी यही कहना होगा।

इन्द्रियजय शब्द में जय शब्द का अर्थ जीतना अवश्य है, परन्तु जीतने के लिए मारना ज़रूरी नहीं है। एक दुश्मन को मारे बिना भी जीता जा सकता है। मारकर जीता तो क्या जीता! हिंसा द्वारा प्राप्त हुई विजय अत्यन्त नीची कक्षा की है। सच्ची विजय तो यही है कि दुश्मन को समझा-बुझा लिया जाय, उसके साथ न्याय और मित्रता का ऐसा सद्व्यवहार किया जाय कि वह दुश्मनी छोड़ने को लाचार हो जाय; यहाँ तक कि वह हमारे सद्गुणों का जहाँ-तहाँ प्रसन्नता से बखान करने लगे। ऐसी स्थिति कठिन अवश्य है, निरी काल्पनिक नहीं। अशोक की कलिंग पर विजय कुछ ऐसी ही थी। वैयक्तिक जीवन में, बहुत-से सज्जनों ने अपनी सज्जनता से कितने ही दुश्मनों पर ऐसी विजय पाई है।

यह दुश्मनों की बात हुई। इन्द्रियाँ तो कोई दुश्मन नहीं हैं। उनके प्रति शत्रुता का भाव रखना ग़लत है। यजुर्वेद में इन्द्रियों को ऋषि कहा है :—

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्।

—यजु० ३४. ५५

आँख, कान, नाक, रसना, त्वक्, वाणी, मन आदि सात इन्द्रियाँ मानो सात ऋषि ही हैं। शरीररूपी आश्रम की, ये सातों ऋषि प्रमाद किये बिना रक्षा कर रहे हैं। इन्द्रियाँ सशक्त और शुद्ध रहें, तभी शरीररूपी यज्ञ ठीक ढंग से चल सकता है।

इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि तो हमारे साधन या हथियार हैं। इन्हीं की सहायता से हमें विविध पुरुषार्थ करने हैं और जीवन-यात्रा सफलता से पूर्ण करनी है। इसलिए इन्द्रियों को मारने या नष्ट करने का प्रश्न ही नहीं उठता।

जो कारीगर अपने औज़ारों को ही तोड़-फोड़ डाले, उसकी गिनती मूर्खों में ही होगी। उल्टे-सीधे रास्ते पर दौड़-दौड़ जाने वाले घोड़ों को सारथि यदि मार ही डाले, तो उसका मंज़िल पर पहुँचना ही मुश्किल हो जाय। इन्द्रियों को कमज़ोर या छिन्न-भिन्न करके हम स्वयं ही कमज़ोर और विकलांग बनते हैं। विकलांग (अन्धे, बहरे आदि) होकर, हम इन्द्रिय-जय प्राप्त करते हैं या ज़िन्दगी बरबाद करते हैं? पुरुषार्थ और पराक्रम के कार्यों के बिना भी क्या कोई ज़िन्दगी है? अभ्युन्नति, अभीष्ट-सिद्धि और आनंदलाभ के लिए मानव-जीवन है। यदि यह सही है, तो लँगड़े-लूलों का यहाँ काम नहीं है। इन्द्रियों को सशक्त, शुद्ध और सतेज रखना होगा।

इन्द्रियजय का ठीक अर्थ

इन्द्रियजय का अर्थ इन्द्रियों का नियमन है। जैसे एक होशियार घुड़सवार अपने घोड़ों को वश में रखता है, उसी प्रकार इन्द्रियों को अपने वश में या अधीन रखने का नाम इंद्रियजय है। सधा हुआ घोड़ा अपनी इच्छा के मुताबिक घुड़सवार को जहाँ-तहाँ घसीट नहीं ले जाता, अपितु वह सवार की इच्छा के अधीन रहता है। इसी प्रकार जिसे इन्द्रियाँ जहाँ वे चाहें घसीट नहीं ले जातीं, वही जितेन्द्रिय है। गीता के शब्दों में :—

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ २.५८

कछुआ अपने तमाम अवयवों को फैलाकर चलता है, परन्तु जहाँ खतरा देखता है, झट उन्हें ढाल के नीचे समेट लेता है। ठीक इसी प्रकार जहाँ खतरा हो—गन्दे गीत, विकारोत्तेजक नृत्य, मदिरा-सेवन, अश्लील सिनेमा व तमाशे आदि हो रहे हों—वहाँ से इन्द्रियों को हटा लेना, तथा जहाँ खतरा न हो—पठन-पाठन, सेवा और परोपकार के कार्यों में—वहाँ छूट से उनका उपयोग करना इन्द्रियजय है।

कछुआ छोटा-सा जानवर है। अपने भले-बुरे को वह समझता है और तदनुसार वर्त कर वह सुरक्षित रहता है। मनुष्य तो बुद्धि-शील प्राणी है, उसे तो अपना भला-बुरा अच्छी तरह समझना चाहिए और कम-से-कम अपनी इन्द्रियों पर तो पूरा-पूरा काबू रखना चाहिए। मन-बुद्धि की बात तो जाने दीजिये, जो इंद्रियों को भी अकार्य (गाली-गलौच करने से, पराई बहू-बेटियों को छेड़ने से, आँख बचाकर दूसरों का माल उठा लेने से, मिठाई व मसालेदार वस्तुओं पर भूखों की तरह टूट पड़ने से आदि-आदि) रोक नहीं सकता, वह मनुष्य कहलाने का अधिकारी है?

मर्म तो यही है कि इन्द्रियाँ उन्मार्ग में प्रवृत्त न हों। भगवान् की कृपा से यह हर कोई आसानी से समझ लेता है कि सही या ग़लत रास्ता कौन-सा है। शुद्ध बुद्धि कहिए, सद्विवेक-शक्ति (Conscience) कहिए अथवा अंतरात्मा की आवाज़ कहिए, निर्भ्रान्त रूप से हमें सन्मार्ग प्रदर्शित करती है। परमेश्वर के दिखाये हुए इस मार्ग को न छोड़ने का नाम ही इंद्रियजय है। महात्मा जी के शब्दों में :—

"इंद्रियों को काबू में रखने का अर्थ यह है कि वे अकार्य न करें। आँखें सीधी रहेंगी, पवित्र वस्तु को देखेंगी, कान भगवद्-भजन सुनेंगे या दुःखियों की पुकार सुनेंगे, हाथ-पैर सेवाकार्य में लगे रहेंगे और सब इंद्रियाँ मनुष्य के कर्तव्य-पालन में परायण रहेंगी और उसी में ईश्वर-प्रसाद प्राप्त होगा।"

इंद्रिय-जय या इंद्रिय-नियमन का अर्थ गीता के शब्दों में निम्न है :—

देव-द्विज-गुरु-प्राज्ञ-पूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥ १७.१४

देव, ब्राह्मण, गुरु तथा विद्वानों का आदर-सत्कार, स्वच्छ और पवित्र आचरण, शरीर को सीधा और स्थिर रखने की आदत, ब्रह्मचर्य और अहिंसा आदि शारीरिक तप हैं। शरीर

व इंद्रियाँ मुख्यरूपेण इन शुभ कार्यों में व्यस्त रहें, यही इंद्रिय-संयम है।

विषय-सेवन का अभाव नहीं

इंद्रिय-निग्रह का यह अर्थ भी नहीं है कि इंद्रियों से कुछ काम ही न लिया जाय। माता गांधारी की तरह आँखों पर पट्टी बाँध रखना बिलकुल ज़रूरी नहीं है। गृहस्थ के झंझटों तथा संसार के आकर्षणों और प्रलोभनों से बचने के लिए जंगल में जाकर बैठ जाने का नाम वैराग्य नहीं, कायरता है। संसार के कोलाहल से दूर भागनेवाला अपनी इंद्रियों को इतना कमज़ोर और कृश बना लेता है कि ज़रा-सी खटखट भी वह सह नहीं सकता। वह जितेन्द्रिय है या कृशेन्द्रिय? बहादुर तो वह है जो डटकर मुका-बिला करे। जो घुड़सवार अपने घोड़ों से कुछ काम ही न ले, उन्हें घुड़साल में ही बंद रखे, वह क्या घुड़सवार है? घुड़सवार तो वही है जो घोड़े की मदद से दूर-दूर स्थानों पर, जहाँ जाना अभीष्ट प्रतीत हो, सत्वर और आसानी से पहुँच जाय। ठीक इसी प्रकार इंद्रियों को बाँध रखना अभीष्ट नहीं; जीवन-निर्वाह, आत्मोन्नति तथा समाज-कल्याण के विभिन्न कार्यों में उनके यथायोग्य उपयोग द्वारा जीवन के चतुर्विध पुरुषार्थ सिद्ध करना ही अभीष्ट है। गीता के शब्दों में :—

> **युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।**
> **युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥६-१७**

युक्त आहार-विहार का नाम ही संयम है। खाने में, पीने में, सोने में, जागने में, काम में और आराम में, मर्यादा और प्रमाण का ध्यान रखना ही इंद्रिय-नियमन है।

इस प्रसंग में महात्मा जी की निम्न उक्ति अतिशय विचारोद्-बोधक है :—

"होंठ सीं लेने से, अथवा जीभ काट डालने से मौन अवश्य सिद्ध हो सकता है, परन्तु यह कोई सच्चा मौन नहीं। सच्चा मौनी

अथवा मुनि वही है जो वाक्शक्ति के अविकल होते हुए भी, मुख से निकम्मे और व्यर्थ शब्द निकालता नहीं।"

इसी बात को गीता के शब्दों में यों कहा जा सकता है :—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्चते॥१७-१५

दुःख न देनेवाले, सत्य, प्रिय और हितकर वचन बोलना तथा धर्मग्रंथों का अभ्यास करना वाणी का संयम या मौन है। वाक्-संयम की कैसी निर्दोष व अर्थपूर्ण व्याख्या है!

सार यह है कि न इंद्रिय-नाश का नाम संयम है, न इंद्रियों के अनुपयोग का; न अति उपयोग का, न दुरुपयोग का; अपितु इंद्रियों के सदुपयोग का नाम ही इंद्रिय-संयम है।

बाह्य इन्द्रियजय भी कठिन है

युक्त आहार-विहार इत्यादि इंद्रिय-जय की साधना का पहला कदम है। इसे स्थूल या बाह्य इंद्रिय-जय कहिए। इंद्रिय-जय की आंतरिक साधना तो अभी शेष है। यह प्रथम चरण भी हम लोगों के लिए ग़लत आदतों, स्वच्छन्दाचार, अयोग्य शिक्षण तथा विषाक्त वातावरण आदि के कारण मुश्किल हो बैठा है। जो बात सहज और स्वाभाविक थी, वही कठिन और अस्वाभाविक हो बैठी है। कैसा अजब तमाशा है! जीभ और पेट को जला दें, ऐसी तीखी और तमतमाती मिर्चें खाना आसान हो गया है। दूध और मक्खन से नौजवानों का जी ऊबता है।

इन्द्रियों की उद्दामता

लोग कहते हैं मनु को मनुष्य पर तनिक भी विश्वास न था। वे ज्ञानी को भी संदेह की दृष्टि से देखते थे :—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा, न विविक्तासनो भवेत्।
बलवान् इन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥

माँ, बहिन व लड़की के साथ भी एकांत में न बैठे। क्यों?

इसलिए कि इंद्रियों का स्वभाव बड़ा उद्दाम है। मौका मिलते ही, वे विद्वान् को भी उल्टे रास्ते पर घसीटकर ले जाती हैं।

मनु की सन्देहभरी नज़रों से खीज भले ही उत्पन्न हो, परन्तु उनमें दुनिया की स्थिति का सूक्ष्म अवलोकन भरा है। जब तक अथाह सम्पत्ति और सत्ता नहीं है, तब तक संयम, सादगी और इंद्रियजय की बातें खूब बढ़-चढ़कर की जा सकती हैं। परन्तु सौभाग्य से मेरे या पाठक के हाथों, पाँच लाख रुपये की कोई लॉटरी लग जाय तो; उर्वशी जैसी कोई सर्वांग सुन्दरी एकांत में स्वयं प्रेम-प्रस्ताव कर बैठे तो; कोई मिल-मालिक अपने खर्चे से कीमती-से-कीमती शराब आदि यावज्जीवन यथेष्ट मात्रा में पिलाने को आप पर मेहरबान हो जाय तो? इंद्रियजय की ऊँची-ऊँची बातें टिक सकेंगी या ताश के पत्तों के समान लुढ़ककर वे धराशायी होंगी? मनु की मान्यता यही है कि अग्नि-परीक्षा में स्वर्ण की तरह खरे उतरनेवाले हज़ारों में दस-पाँच ही मिल सकते हैं, तो उन्हें क्यों कोसा जाय?

ब्रिटेन के परफ्युमोकिलर प्रकरण ने सभ्य जीवन की किन सचाइयों का उद्घाटन किया है?

Towards Moral Bankruptcy नामक पुस्तक के लेखक श्री पाल ब्यूरो ने फ्रांस के अनैतिक जीवन के सम्बन्ध में अनेक चौंका देनेवाली हकीकतें प्रस्तुत की हैं—

१—फ्रांस में पिछले २५ वर्षों से, संतति-निग्रह के सब कृत्रिम उपाय लगातार किये जाते रहे, परन्तु फिर भी गर्भपातों की संख्या कम नहीं हुई; उल्टे और अधिक होने लगे। वहाँ प्रति-वर्ष करीब ३,२५,००० गर्भपात होते हैं।

२—सिर्फ पेरिस में, ७५,०८० रजिस्टर्ड वेश्याएँ हैं और उनसे कई गुना अधिक रजिस्टर्ड न की गईं खानगी वेश्याएँ हैं। फ्रांस के अन्य शहरों में भी इस गंदगी की कोई हद नहीं है।

३—जननेन्द्रिय-सम्बंधी रोगों के भयंकर विस्तार ने, सर्वसाधारण के स्वास्थ्य को बड़ी क्षति पहुँचाई है। क्या नवयुवक और

क्या प्रौढ़, चारों ओर से सभी की निर्बलता की चर्चा सुनाई पड़ती है।

४—केवल पेरिस में ही नहीं बल्कि समस्त फ्रांस में, मृत्युसंख्या की अपेक्षा जन्मसंख्या में बहुत कमी हो गई है। फ्रांस के ८७ प्रांतों में से ६८ में पैदाइश की औसत मौत की औसत से कम है। वहाँ अगर १०० बच्चे जन्म लेते हैं तो १६२ मरते हैं।

५—फ्रांस की आबादी जिस तेजी से घट रही है, उससे तो प्रतीत होता है कि आनेवाले १०० वर्षों में, उसके हरे-भरे खेत फ्रांसीसियों से खाली ही हो जाएँगे।

६—भ्रष्टाचार और कृत्रिम बंध्यत्व के फलस्वरूप फ्रांस में युवकों की अपेक्षा बूढ़ों का अनुपात जितना होना चाहिये उससे कहीं ज़्यादा बढ़ा हुआ है। फ्रांस में हर १००० आदमियों में बच्चे और युवक मिलाकर सिर्फ १७० हैं, जबकि जर्मनी में २२० और इंगलैंड में २१० हैं।

अमेरिका के आंकड़े भी कुछ कम भयानक नहीं हैं :—

१—अमेरिका में प्रतिवर्ष लगभग ढाई लाख कन्याएँ विवाह-बिना ही माताएँ बन जाती हैं।

२—इसके सिवा प्रतिवर्ष १० लाख कन्याएँ वहाँ गर्भपात कराती हैं। इस प्रकार प्रतिवर्ष लगभग साढ़े बारह लाख कन्याओं का वहाँ सतीत्व भंग होता है।

३—प्रति ६ कन्याओं में एक कन्या विवाह के समय वहाँ गर्भवती हो चुकी होती है।

४—ऐसा हिसाब लगाया गया है कि १९६३ में प्रति १८ बालकों में से केवल एक बालक ही वहाँ कानूनन (legal) जन्मा हुआ होगा। शेष १७ बालक गैरकानूनन अर्थात् व्यभिचार से उत्पन्न हुए होंगे।

५—गैरकानूनन जन्म पाये हुए बालकों के भरण-पोषण पर अमेरिकन सरकार को प्रतिवर्ष ९० करोड़ रुपया खर्च करना पड़ता है।

६—वहाँ ७० लाख नागरिक अब भी ऐसे हैं जो व्यभिचार से उत्पन्न हुए हैं। इनके माता-पिता के विषय में किसी को कुछ भी ज्ञात नहीं है।

इसी ढंग से अनैतिकता की प्रगति होती रही तो १९७० में अमेरिका में गैरकानूनन जन्मे हुए नागरिकों की संख्या एक करोड़ तक पहुँच जाएगी।

दूसरे देशों की बातें क्यों की जाएँ? हमारे देश में क्या कुछ कम व्यभिचार और दुराचार है? हाँ, हमारे यहाँ खुल्लमखुल्ला नहीं है। डर-डर के, छुप-छुप के, सब-कुछ वैसा ही हो रहा है। इसीलिए तो मनु ने ही नहीं, गीता ने भी खतरे की घंटी बजाई है :—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥ २-६०

मनु और गीता के भावों में बहुत साम्य है, परन्तु जैसा आचार्य विनोबाजी ने सुझाया है, दोनों की भूमिका एक नहीं है। गीता, इंद्रियों की प्रचण्ड शक्ति कुबूल करती है, परन्तु वह आशा रखती है कि विद्वान्, प्रलोभनों के प्रचण्ड प्रहारों के सम्मुख स्थिर रह सकेगा। यों कहिये कि विद्वान् और पुरुषार्थी तो है ही वह जो प्रवाह में वह न जाय, भले ही इंद्रियाँ उसके मन को ज़बरदस्ती घसीट ले जाएँ।

दम्भ क्या है?

मन में विचार उत्पन्न हो जाना एक बात है, उसके अनुसार कृति करना दूसरी बात है। पड़ोसी के यहाँ से रुपयों की थैली उठा लेने की मन में इच्छा उत्पन्न हो जाने से ही कोई चोर नहीं हो जाता और न पराई स्त्री पर कुदृष्टि डालने की इच्छा से व्यभिचारी। रुपयों की थैली जब तक उठाई नहीं, कुदृष्टि जब तक डाली नहीं, तब तक पड़ोसी या पराई स्त्री का बिगड़ा क्या?

किसी का कुछ बिगड़ा ही नहीं तो गुनाह और पाप कहाँ से हो गया ? परन्तु···

कानून की निगाह में कुछ न बिगड़ा हो, धर्म की निगाह में तो सब-कुछ बिगड़ ही गया। मन बिगड़ गया तो पाप हो ही गया। कहा भी है, वाणी को तो रोकना, पर मन में किसी को गाली देते रहना इंद्रियजय नहीं, दम्भ है—

> कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
> इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ।। ३-६

जो मनुष्य कर्मेन्द्रियों को हठपूर्वक रोकता रहता है, वह मूढ़बुद्धि मिथ्याचारी कहलाता है ।

दम्भी अवश्य पापी है। परन्तु दम्भी तो वह है जो दिखावा करता है, जिसे भोगी रहना है परंतु त्यागी की छाप डालनी है। पुजारी का भेष बनाना और पराई स्त्री को फुसलाने की घात में रहना दम्भ है। महात्मा जी ने श्लोक का गूढ़ार्थ ठीक ग्रहण किया है :—

"जो लोग भय या ऐसे ही कारणों से शरीर को तो रोकते हैं, परंतु मन को नहीं रोकते, इतना ही नहीं, बल्कि मन से तो विषयों का भोग करते रहते हैं और मौका मिले, तो शरीर से भी भोगें, ऐसे मिथ्याचारी की यहाँ निन्दा है।"

विपरीत इसके जिसे संयम इष्ट है, मन पर अंकुश रखने के लिए जो यत्नशील है, वह दम्भी नहीं है, दुर्बल मन वाला है । दुर्बल मन होने से ही प्रलोभनों के सम्मुख उसका मन विकारों के वश हो जाता है। विषयों का सेवन, वह मन-ही-मन अवश्य करता है, परन्तु विवशता से । उसके विचार और आचार में अंतर ज़रूर है, परन्तु फिर भी वह दम्भी या ढोंगी नहीं, क्योंकि वह इस अंतर को कम करने के लिए मथता और मेहनत करता है।

इन्सानियत

परिस्थितिविशेष में मन का विकारवश हो जाना कोई पाप नहीं। दुनिया के सभी लोग विकारवश होते ही हैं; इसमें घबराने की ज़रा भी ज़रूरत नहीं। विकार के अनुकूल बाह्य-कृति न होने देना भी बहुत बड़ी बात है। इन्सानियत इसी का नाम है। विषय-वासना के विरुद्ध लड़नेवाला विजितेन्द्रिय भले ही न हो, बहादुर योद्धा अवश्य है। परंतु इतना ही बस नहीं है। एक कदम आगे बढ़कर, मनुष्य को मन भी वश में करना है।

१७ मार्च, १९६४

: १० :

मनोजय

मन को विकारी रहने देकर, शरीर को दबाने की कोशिश करना हानिकर ही है। जहाँ मन है, वहाँ अन्त को शरीर भी घसिटाये बिना नहीं रहता।

—महात्मा गांधी

शरीर पर अंकुश रखनेवाला शूर है, तो मन पर अंकुश रखनेवाला महावीर। शरीर पर अंकुश रखना तो ठीक है, परंतु साथ ही मन पर अंकुश रखने की कोशिश न की जाय, तो विकार और वासना के बराबर उमड़ते रहने से, मन में विषय-वासना दृढ़ हो चलती है। प्रतिकार की शक्ति क्षीण होती है। विकार के विरुद्ध लड़ने का स्वभाव भी धीमे-धीमे बदलने लगता है। मानसिक विषय-सेवन में अब अफसोस नहीं, आनंद आने लगता है। फिर तो बुद्धि भी सुरक्षित नहीं रहती; वह मन की इच्छा पूरी करने के लिए युक्तियाँ सोचने लगती है। फिर तो जीवन का समूचा व्यवहार अव्यवस्थित व अण्टशण्ट हो चलता है :—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥ २.६७

इतना ही काफ़ी नहीं कि विकार के अनुसार बाह्य कृति न होने दे, अपितु यह भी आवश्यक है कि मन में तड़फड़ाती व उछलकूद मचाती वासना को भी वश में लाया जाय। यह न

हुआ तो, जलमार्ग में पड़ी नाव का हवा के चक्कर में कभी-न-कभी पड़ जाना जैसे निश्चित है, उसी तरह बुद्धि का भी विकाराधीन मन की पकड़ में आ जाना निश्चित है। फिर तो बुद्धि कुबुद्धि वन जाती है; जीवन-नौका भवसागर के बीच डुवाकर ही वह दम लेती है।

आन्तरिक साधना का स्वरूप

विकार या विषयवासना को वश में करना, आन्तरिक साधना है। इन्द्रिय-जय का इसे द्वितीय चरण कहिए, अथवा इसी के साथ इन्द्रिय-जय की पूर्णता समझिये।

आन्तरिक साधना क्या है ? किसी कवि ने चुने हुए शब्दों में खूव कहा :—

मातृवत् परदारेषु, परद्रव्येषु लोष्ठवत्।
आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति॥

पराई स्त्रियों में माता की वुद्धि रखना, पर-द्रव्य को मिट्टी-सा समझना, सब प्राणियों को अपना मानना, वासना-विजय की पराकाष्ठा है। गीता के शब्दों में :—

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते॥ १७.१६

मन की प्रसन्नता, कोमलता, विचारशीलता (मौन), मन का क़ाबू में रहना, भावना-शुद्धि (मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा आदि भावों से मन का भरा होना) आदि मानसिक संयम हैं।

विकारों का कारण

मन में विकार-वासनाओं या खोटी भावनाओं के वार-वार उठने के क्या कारण हैं ? मूल कारण तो अज्ञान है। इसके दो मुख्य रूप हैं :—

१ - विषय-भोगों की प्राप्ति में ही जीवन का वास्तविक सुख और आनन्द है, यह प्रतीति व विश्वास, तथा

२—विषय-भोगों से प्राप्त होनेवाले सुख से उच्चतर सुख का पूर्ण साक्षात्कार (अनुभव) न होना।

यही अज्ञान और खोटी मान्यता लिये, संसारी लोग दिन-रात दौड़-धूप कर रहे हैं। इसे या उसे हस्तगत करने के लिए, एक-दूसरे से लड़-झगड़ रहे हैं, और व्यर्थ ही परेशान और व्याकुल हो रहे हैं। इस दौड़-धूप से कुछ भी सुख न मिले, तब तो फिर कोई दौड़े ही क्यों? विषय-सेवन से सुख अवश्य मिलता है, परन्तु इससे प्यास कहाँ बुझती है? यह तो असल में ऐसा ही है जैसे ओस-विंदुओं से प्यास बुझाने का कोई प्रयास करे। ओह! संसारी कितना खून सुखाते हैं, कितनी भारी तपस्या करते हैं! किन्तु हा! मृगमरीचिका के लिए या फिर कहिए नगण्य-से फल के लिए।

सच्चा सुख

खोटी मान्यताएँ जब तक मिटेंगी नहीं, तब तक विषय-लालसा दूर करने के सब उपदेश व्यर्थ ही होंगे। इसीलिए गीता ने सुख के सात्त्विक, राजस और तामस भेद समझाकर, संसारियों के हृदय में सचाई बैठा देने का प्रयत्न किया है:—

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकंप्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥
विषयेन्द्रिय - संयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥
यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्॥१८-३७,३८,३९

विषयभोग से नहीं; परन्तु मन और बुद्धि की प्रसन्नता (निर्मलता, स्वस्थता, विकार-विहीनता) से उत्पन्न होनेवाला सुख ही, दुनिया में, सबसे कीमती वस्तु है।

इस प्रसंग में महात्मा जी के ये शब्द स्मरण रखने योग्य हैं:—

"आनन्द सुख से भिन्न वस्तु है यह ध्यान में रखना चाहिए। मुझे धन मिलने पर मैं उसमें सुख मानूँ यह मोह है। मैं भिखारी होऊँ, खाने का दुःख हो, फिर भी मेरे चोरी या किन्हीं प्रलोभनों में न पड़ने में जो बात मौजूद है, वह मुझे आनंद देती है, और वह आत्म-संतोष है।"

गीता ने सुख के सात्त्विक, राजस, तामस आदि जो भेद किये हैं, उसका ज्ञान तो हम सबको है। तो फिर हमारे विकार शांत क्यों नहीं होते ? हमें केवल अक्षर-ज्ञान है। अक्षर-ज्ञान तो बच्चे को भी होता है; परन्तु फिर भी वह आग में हाथ डालता ही है। जब अनुभव से उसे पक्का ज्ञान हो जाता है, तो फिर उसे आग में हाथ डालने को कितना ही कहो, वह आग में हाथ डालेगा नहीं। ठीक इसी प्रकार हमारे हृदय में, यह बात दृढ़ता से बैठ जाये कि सब विषय-सुख विष-परिणामी हैं, तो कहीं जाकर काम बने। शिक्षण से, स्वाध्याय से, सत्संगति से, अवलोकन तथा मनन से, ऐसा प्रयत्न करते रहना इष्ट है।

उत्कृष्ट रस

विकार व विषय-वासना दूर करने के लिए इतना ही काफ़ी नहीं। विषय-स्वाद से उत्कृष्टतर स्वाद का, मन को चस्का भी लगना चाहिए।

बाह्य विषयों का रस, स्वाद या लालसा, परमेश्वर—सत्य या धर्म का रस चख लेने से आप-से-आप मिट जाती है। धर्म-कार्यों का रस क्या कुछ कम स्वादिष्ट है ? अपने-आप खाने में सुख है, परन्तु दूसरों को खिलाने में सन्तोष व आनन्द है। किसी माँ अथवा दानी महात्मा से पूछो, इसमें क्या रस है ? कण-कण से जो चिपटा है वह कृपण, उस रस को क्या जाने ?

मिट्टी में खेलने में बच्चा खूब आनन्द मानता है। घड़ी-घड़ी वह अपना शरीर और कपड़े मिट्टी में सान लेता है। मैले हाथ-पैर और नाक आदि को, पहने हुए वस्त्रों से पोंछ, उन्हें बिगाड़

लेता है। माता-पिता को उन गंदी आदतों से भले ही खीझ चढ़ती हो, वच्चा तो इस सव गन्दगी में खुश होता है। परन्तु वड़ा होने पर उसी वालक को, जव स्वच्छता का भान होता है या कहो सफाई का रस लग जाता है, तव गन्दगी आप-से-आप असह्य हो जाती है। न वह मिट्टी में हाथ डालना पसंद करता है, न पहने वस्त्रों पर कोई दाग़ सहन कर सकता है।

ठीक इसी प्रकार सत्य, धर्म या परमेश्वर के सर्वोत्कृष्ट रस का स्वाद, रस के भूखे संसारी को मिलना चाहिए। तब विषय आप-से-आप शिथिल होकर छूट जायेंगे। तुलसी अपनी पत्नी में कितने आसक्त थे? पत्नी के पीछे-पीछे ससुराल में भी जा पहुँचे। चार दिन भी उसके विना रह न सके। सूरदास की कहानी शुरू में ही हमने कही है। राम के गुलाम और वाल-गोपाल के प्रेमी वन जाने पर, उनका सव विषय-रस क्षण-भर में क्या काफूर नहीं हो गया? जो स्वयं कभी तड़फते थे, प्रीति का वे कैसा दरिया वहा गये!! उमड़ती लहरों में वहे जाओ, जी भरता है क्या?

मीरा को तो वे सव राजसी वैभव प्राप्त थे, जिन्हें पाने के लिए संसारी दिन-रात तरसते हैं। परन्तु गिरधर गोपाल से प्रीति लग जाने पर, मीरा के मन को, संसार के सव विषय, अणुमात्र भी अपनी ओर आकर्षित कर सके? वह दीवानी राजमहल छोड़, जीवन-भर वृन्दावन के कुंजों और गलियों में अपना दर्द सुनाती रही :—

म्हाने चाकर राखो जी
गिरधर लाला चाकर राखो जी
चाकर रहस, बाग लगासूँ
नित उठ दरसन पासूँ
ृन्दावन की कुंज गलिन में
गोविन्द लीला गासूँ।

उपर्युक्त पंक्तियों में, जो न दबनेवाला दर्द भरा है, वह हर किसी के हृदय क ो वेध देनेवाला है। किस अगाध प्रीति ने इन

सुन्दरतम पंक्तियों को जन्म दिया होगा ? इस प्रीति का एक कण भी हमें मिल जाय तो···तो सब कूड़ा-कचरा (विषय-विकार) क्षण-भर में, जलकर राख हो जाय, हृदय सुवर्ण-सा प्रदीप्त हो जाय। इस प्रीति की प्राप्ति के लिए प्रतिदिन प्रभु से प्रार्थना करनी चाहिए :—

एकज दे चिनगारी
महानल ! एकज दे चिनगारी
चकमक लोढुं घसनाँ घसनाँ
खरची जिन्दगी सारी
ज़ामगरी माँ तणखो न पडयो
न फली मेहनत मारी
महानल ! एकज दे चिनगारी।

पूर्ण इन्द्रिय-जय की परख

यह प्रीति मिल गई, इसकी पहचान क्या ? सारी जीवन-दृष्टि ही बदल जाती है, रहने-सहने का सब ढंग ही कुछ और हो जाता है। मीरा ने ही कहा है—

'उलट भई मोरे नयनन की' आदि।

इन्द्रियजय की बाह्य-भीतर साधना की सम्पूर्णता की परख गीता ने निम्न शब्दों में प्रस्तुत की है :—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥ २-६९

महात्मा जी ने उपर्युक्त श्लोक का अक्षरार्थ और भावार्थ दोनों, थोड़े-से शब्दों में, किस खूबसूरती से दुहकर रख दिये हैं :—

"भोगी मनुष्य रात के बारह बजे तक नाच-रंग, खान-पान आदि में अपना समय बिताते हैं और फिर सवेरे सात-आठ बजे तक सोते हैं। संयमी रात के सात-आठ बजे सोते और मध्य-रात्रि में उठकर ईश्वर का ध्यान करते हैं। साथ ही भोगी संसार का प्रपंच बढ़ाता है और ईश्वर को भूलता है, उधर संयमी सांसा-

रिक प्रपंचों से बेखबर रहता है और ईश्वर का साक्षात्कार करता है।"

भोगी चतुर्विध पुरुषार्थों में से **काम** और **अर्थ** को ही सर्वोपरि मानता है, धर्म और ज्ञान (मोक्ष) को सिर्फ साधनमात्र। यदि काम (सुख) व अर्थ (धन) की प्राप्ति के लिए, धर्म या ज्ञान की भेंट चढ़ानी पड़े, तो वह ज़रा भी हिचकिचायेगा नहीं।

विपरीत इसके संयमी (जिसे प्रभु-प्रीति मिल गई है) **धर्म** और **ज्ञान** को सर्वोपरि महत्त्व देता है। अर्थ और काम, उसकी निगाह में, धर्म और ज्ञान के साधनमात्र हैं। वह सौ बार देह छोड़ देगा, धर्मपथ नहीं—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।

—नीतिशतक (भर्तृहरि)

३० मार्च, १९६४

: ११ :

कर्मयोग का कक्का

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः। गीता ३.२०

Do the duty that lies nearest to thee.

—Goehe

पश्चिम के लोग पुरुषार्थी हैं, हम प्रमादी और प्रारब्धवादी। सच्चे कर्मयोगी न वे हैं, न हम। हाँ, उन्होंने कर्मयोग का कक्का अवश्य पढ़ लिया है, हमने वह भी नहीं। इसलिए वे इहलोक को बहुत-कुछ सुखमय बनाने में सफल हुए हैं, हम ऐहिक सुख के लिए भी तरसते हैं। इसके लिए कर्मयोग का कक्का सीख लेने के बजाय हम ऐहिक सुख की ही निन्दा करते हैं और आध्यात्मिक सुख की बातें बघारते हैं। यह निरा दम्भ है। सुखी होने का यह रास्ता नहीं।

ठीक है, पहले कभी हम सब देशों के गुरु थे—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

चरित्र की शिक्षा हमारे चरित्र से ही सब देश लेते थे। परन्तु आज, जो कुछ आता था वह भी हम बहुत-कुछ भुला बैठे हैं। पश्चिम के लोग नई-नई चढ़ाइयाँ सर करते गए, एक के बाद एक कक्षा पास करते गए। प्राथमिक कक्षाओं में बैठने में, तथा जिन्हें कभी सिखाया था उन्हीं से सीखने में, भले ही हमें शर्म आती हो, परन्तु अब कोई चारा नहीं है :—

बालादपि गृहीतव्यं युक्तमुक्तं मनीषिभिः।
रवेरविषये किं न प्रदीपस्य प्रकाशनम् ।।

गुण तो बालक से भी ग्रहण कर लेने चाहिएँ। इसमें शर्म क्या? अन्धानुकरण के लिए कोई नहीं कहता। वह तो निरी जड़ता है। परन्तु सीखने योग्य बातें न सीखना व्यर्थ की अकड़ है।

कर्मयोग से फलत्याग, अनासक्ति, निष्कामता, निःस्पृहता, अनहंकार, यज्ञार्थ, ब्रह्मार्पण आदि की बातें भी आती हैं, परन्तु वे सब बातें (या पाठ्यक्रम) कॉलेज की ऊँची कक्षाओं के लिए हैं। प्राइमरी तथा माध्यमिक कक्षाओं में तो कर्म में कुशलता (Skill, Efficiency, दक्षता) हासिल करने के अंग पर ही विशेष ध्यान देना होता है। हम जो काम हाथ में लें, वह सुन्दर ढंग से सम्पूर्ण होना ही चाहिए। इसके लिए आवश्यक तैयारी व विशेष गुणों का अभ्यास आदि प्राथमिक कक्षाओं (स्कूल विभाग) में करना आवश्यक है।

स्कूल-विभाग का अभ्यास जिसने पूर्ण कर लिया है, वही कॉलेज में प्रवेश पाने का अधिकारी होता है। हमारे दिमाग़ में अध्यात्मवाद का गुमान भरा है, इसलिए प्राथमिक कक्षाओं में बैठे बिना ही कॉलेज की कक्षाओं में कूद-फाँदकर हम पहुँच जाना चाहते हैं। यह अस्वाभाविक और अनहोनी बात है। सीधे रास्ते चलना सब काल श्रेयस्कर है।

कर्मयोग का कक्का यही है कि—

१—हाथ में लिया हुआ प्रत्येक कर्म महत्त्वपूर्ण है।

"समाज में एक का धर्म झाड़ू देने का होता है और दूसरे का धर्म हिसाब रखने का होता है। हिसाब रखनेवाला भले ही श्रेष्ठ गिना जाए,...ईश्वर के यहाँ दोनों की सेवा का मूल्य उनकी निष्ठा के अनुसार कूता जाएगा, व्यवसाय का मूल्य वहाँ तो एक ही हो सकता है।"

—महात्मा जी

Let us never forget that every station in life is necessary, that each deserves our respect; that not the station itself, but the worthy fulfilment of its duties does honour to man. —Mary Lyon

२—कुशलता से किया हुआ छोटे-से-छोटा काम भी ज्ञान और अनुभव में वृद्धि करता है :—

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ।।—गीता ४.३३

३—आत्म-शुद्धि और शक्तियों के विकास का कर्म से बढ़कर सीधा और सरल कोई रास्ता नहीं :—

योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये ।।—गीता ५.११

Duty performed is a moral tonic; if neglected the tone and strength of both mind and heart are weakened and spiritual health undermined. —Tryon Edwards

४—कर्म, लौकिक अभ्युदय का ही साधन नहीं, आनन्द का भी मूल स्रोत है। कर्त्तव्य कर्म (duty) और सुख-शान्ति का अटूट सम्बन्ध है।

The consideration that happiness and moral duty are inseparably connected, will always continue to prompt me to promate the former by inculcating the practice of the latter. —George Washington

५—ढीले-ढाले ढंग से नहीं, खूब दृढ़ता और सिद्धि प्राप्त करने का सम्पूर्ण संकल्प (will) करके ही कोई काम हाथ में लेना आवश्यक है।

The surest way not to fail is to determine to succeed. —Sheridan

६—परिस्थिति, परिणाम और पौरुष आदि के प्रत्येक पहलू की पर्याप्त परीक्षा के पश्चात् ही कर्म का प्रारम्भ करना श्रेयस्कर है।

"कृति के पहले भी विचार, बाद में भी विचार से काम

लीजिए। आगे-पीछे सर्वत्र विचाररूपी परमेश्वर खड़ा रहना चाहिए।" —आचार्य विनोबा

विचारहीन कर्म तो तामस है :—

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते॥—गीता १८.२५

७—अनावश्यक विलम्ब, कर्म का समग्र रस धीमे-धीमे चूस जाता है, यह याद रखना चाहिए।

Every duty that is bidden to wait comes back with seven fresh duties at its back. —Charles Kingsley

कर्म का यथाकाल और यथायोग्य प्रारम्भ विजय की पूर्व-भूमिका है।

८—युक्ताहार-विहार का मार्ग ही अनुकरणीय है। एक ही काम रात-दिन घसीटते जाने से समर्थ ढंग से हो सकता है, यह भ्रान्ति है। तरोताज़गी के लिए आराम और विश्राम की समझदारीपूर्ण योजनाएँ बिलकुल ज़रूरी हैं। स्नायुओं में स्फूर्ति तथा कर्म में प्रभा तभी प्रकट होती है।

९—अनुष्ठान का समय निश्चित हो तो उसमें शक्ति आप-ही-आप आ जाती है। पूर्व-सूचना होने से देव मदद के लिए आप-से-आप दौड़ आते हैं। यजमान फिर अपने को महाबली अनुभव करने लगे तो आश्चर्य ही क्या है?

१०—प्रामाणिकता व नीतिनिष्ठा कर्म का मौलिक तत्त्व है। छोटे-मोटे मालिक की आँखों में धूल चाहे डाली जा सके, परन्तु आत्मा को अथवा मालिकों के मालिक को कौन कभी प्रवंचित कर सका है? चोरी काँटे की तरह मन में दिन-रात चुभती रहे, तो सफलता का फल क्या?

११—चालबाज़ियों से या सुयोगवशात् सिद्धि किसी के द्वार पर आ पहुँचती है, इस मोह में न रहना ही श्रेयस्कर है। दुनिया में न्याय और नियम का अटूट राज्य है। सिद्धि वरती है वीर-

बहादुर को, अध्यवसायी को, "कार्यं वा साधयेयं देहं वा पातयेयम्" इस निश्चय के धनी अधिकारी को—

Heights by greatmen reached and kept
Were not attained by sudden flight,
But they while their companions slept
Were toiling upward through the night.

—Longfellow

१२—कल्पना के पंख तोड़ न डालो, तो चाहे जितना ऊँचा उड़ सकते हो। रोते-झींकते रहने के लिए जीवन नहीं है। मानव-जीवन महान् कार्यों के लिए है। शक्ति और साधन, प्रभूत मात्रा में, हर किसी को प्रभु ने अर्पित किये हैं। आत्म-विश्वास और श्रद्धा के साथ उद्योग करना अपना काम है। फिर तो पिटारे खुलने लगते हैं; नये-नये रत्न हाथ आते हैं।

It is for want of application, rather than of means, that men fail of success.

१३—कर्म का बोझ कभी-कभी आ पड़े तो उसे प्रभु का बहुत बड़ा प्रसाद समझना चाहिए। वह टंटा काटने के लिए नहीं, क्रियाशक्ति प्रचंड करने के सदुद्देश्य से भेजा जाता है। प्रमाद, जाने अन्तर् के किस कोने में छिपा होता है, उसे खोजकर प्राचीर से बाहर धकेल देना नितान्त आवश्यक है।

१४—विघ्न-बाधाओं का उद्देश्य हृदय को मजबूत करना है। पहाड़-सी विपत्तियों के सामने भी वीर ने मस्तक कब झुकाया है? "निवातेऽपि निष्कम्पाः गिरयः"—तूफान और झंझावात में भी पर्वत अडिग रहता है। बड़ी-बड़ी मुसीबतों में भी जिसका धैर्य भंग नहीं हुआ, शोक-विषाद में जो डूबा नहीं, वही आर्य है। क्लैव्य और कश्मल झाड़कर संग्राम में जो फिर-फिर जूझेगा, वही सच्चा क्षत्रिय है—

'क्लैव्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।।—गीता २.३

१५—मार्ग की असफलताएँ, संग्राम के स्वाद को बढ़ाने के लिए ही हैं। निराशा और दुःख का कोई कारण नहीं। विफलताओं के विना जीवन-दर्शन में न गंभीरता आती है और न हृदय में नरमी व आर्द्रता। श्रेष्ठतम गुणों का विकास असफलताओं के क्षणों में ही हुआ है। सफलता की तरह असफलता भी प्रभु का वरदान ही है, श्रद्धा रखो।

१६—असफलता के क्षणों में दूसरों को कोसने लग जाने का कोई अर्थ नहीं। अपनी कमज़ोरियों पर दृष्टि डालना ही उनका एकमात्र प्रयोजन है। पूर्ण तो केवल परमेश्वर ही है।

१७—प्रातः-सायं कर्म की सम्पूर्ण परीक्षा करनी चाहिए। क्या-क्या क्षतियाँ व त्रुटियाँ रह गई हैं, यह निर्मल और प्रार्थनापूर्ण हृदय से देखना लाभदायक है। कमियाँ दूर करने के लिए फिर-फिर कमर कसनी होगी। हताश होने का तो कोई काम ही नहीं।

अपने पैरों पर जो मजबूती से खड़ा होगा, उसकी मदद के लिए परमेश्वर भी दौड़ आएगा।

१८—सौ कामों में हाथ डालने की अपेक्षा, 'आज यह, कल वह' ऐसी दौड़-धूप करने की अपेक्षा, अपनी प्रवृत्ति और प्रकृति, स्वभाव और संस्कार, अभ्यास और अभिरुचि के अनुसार, अपना कर्त्तव्य खूब विचारपूर्वक निश्चित करना चाहिए। कर्त्तव्य का योग्य निश्चय आधी सफलता है।

१९—रही-सही सफलता तब प्राप्त होगी, जब मनुष्य अपनी एकाग्रता व एकतानता की प्रचंड शक्ति, अपने कर्त्तव्य पर सम्पूर्ण रूप से स्थिर कर देगा। सूर्य की किरणें एकाग्र होकर कैसी प्रचंड हो जाती हैं ?

मन की शक्तियाँ जब तक बिखरी पड़ी हैं, तभी तक मनुष्य निर्बल है। यदि ये शक्तियाँ एक बिन्दु पर केन्द्रित हो जाएँ तो ? मन-सा महाबली कौन है ? सिद्धि का मूलमंत्र मनोयोग है। "यदि बाहर से काम बिगड़ा तो यह निश्चित समझो कि अन्दर मन का योग नहीं है।"

२०—दूसरे का हक छीनना हद दरजे की बेईमानी है। जो कामचोर है, जो आलसी और पुरुषार्थहीन है, वह बेईमानी का धंधा करने को ज़रूर ललचाएगा। बेईमानी फलेगी तो क्या, भयंकर शूल उत्पन्न करेगी। चित्त की प्रसन्नता और प्रफुल्लता पर सब काल के लिए पानी फिर जायगा।

"भुञ्जते ते त्वघं पापाः ये पचन्त्यात्मकारणात्"—मात्र अपने पेट के लिए खाना पकानेवाला यदि भगवान् की दृष्टि में पापी है, तो दूसरों का पेट काटनेवाला (नरमतम भाषा में) 'महापापी' ही कहा जाएगा।

२१—गीता में गिने-चुने कुल ७०० श्लोक हैं, परन्तु जीवन की कला सिखानेवाला उस जैसा कोई सार्वभौम ग्रन्थ दुनिया में शायद ही हो। युगों के साथ-साथ मानव-जाति का ज्ञान और अनुभव जैसे-जैसे विस्तृत होता जाता है, वैसे-वैसे गीता के शब्दों का अर्थ व्यापक और व्यापक हो जाता है। महाकवि की कला का क्या कहना! अद्भुत कमाल है!

बहुत लिख-लिखकर कागज़ काला करने का कोई अर्थ नहीं। परिमाण (quantity) की नहीं, गुण (quality) की पूजा होकर रहेगी :—

"गुणाः पूजास्थानं"

२२—भविष्य की आवश्यकता से ज़्यादा चिन्ता, बेकार ही नहीं, श्रद्धाहीनता की सूचक भी है।

"भविष्य की चिन्ता हमें कायर बना देती है। भूत का भार हमारी कमर तोड़ देता है। हममें जीवनी शक्ति इतनी कम है कि भूत और भविष्य में फैला देने से वह क्षीण हो जाती है।"

—प्रेमचन्द

वर्त्तमान को चारों ओर से देखना और उपस्थित कर्तव्य को अच्छे-से-अच्छे ढंग से सम्पादन करना ही भविष्य की सबसे अच्छी तैयारी है।

२३—यदि अपने भाग में आये हुए कर्त्तव्य (स्वधर्म) को पूर्ण निष्ठा से करें, तो मानव-जाति के कल्याण के महानतम कार्य में हम आसानी से ही सहयोगी हो सकते हैं :—

Let us do our duty in our shop or our kitchen, in the market, the street, the office, the school, the home, just as faithfully as if we stood in the front rank of some great battle, and knew that victory for mankind depended on our bravery, strength, and skill. When we do that, the humblest of us will be serving in that great army which achieves the welfare of the world. —Theadore Parker

ऊपर की पंक्तियों में हमने कर्मयोग के क, ख, ग के सम्बन्ध में कुछ निर्देश किये हैं। आध्यात्मिकता की सब बातों से हम खूब बच-बचकर चले हैं। यदि उपर्युक्त निर्देशों का समग्र रूप से अभ्यास और मनन किया जाय तो श्रेयार्थी के कर्म में स्वच्छता, सुघड़ता, शक्ति, प्रभा, कुशलता और कला अवश्य आ सकेगी।

'योगः कर्मसु कौशलम्' कर्मयोग के इस लक्षण में कौशल शब्द का मुख्यार्थ कुशलता है, यह याद दिलाने की विशेष ज़रूरत है। फलत्याग आदि से इसका सम्बन्ध है, परन्तु वह तो कर्म में कुशलता बढ़ाने की एक युक्ति है। मुख्य बात तो कुशलता (efficiency) है। इस कुशलता-सम्पादन के लिए ही कुछ अन्य युक्तियों की ओर ऊपर संकेत किया गया है।

कर्म में आवश्यक कुशलता हो तो सफलता मिलनी ही चाहिए, क्योंकि कुशलता की सबसे बड़ी कसौटी सिद्धि और सफलता ही है। फल-त्याग आदि की चर्चा में हम इतने उलझ गए हैं कि हम यह प्रायः भुला ही बैठे हैं कि सफलता भी कर्मयोग का एक नित्य लक्षण है। फल भगवान् के हाथ है, सही है; परन्तु यह भी सही है कि अथक पुरुषार्थ से प्रसन्न परमेश्वर, कर्मण्य की पीठ प्रेम से थपथपाकर ही रहते हैं।

२० दिसम्बर, १९६३

: १२ :

राष्ट्रीय चरित्र

Character is the real foundation of all worth-while Success. —John Hays Hammond

१

जवाहरलाल नेहरू ने, कुछ मास पूर्व, पुस्तकों की एक प्रदर्शनी का उद्घाटन करते हुए कहा था :—

हमारे देश में पुस्तकें प्रतिवर्ष बहुसंख्या में प्रकाशित होती हैं, परन्तु उनका स्तर (Standard), पश्चिमी देशों से प्रकाशित होने वाली ज्ञान-विज्ञान और साहित्य की पुस्तकों की तुलना में प्रायः पर्याप्त नीचा होता है।

इसी प्रकार श्री लाजपतराय की प्रतिमा के अनावरण-समारोह के सिलसिले में, श्री नेहरू ने कहा :—

अफ़सोस से कहना पड़ता है कि अपने देश के कलाकारों द्वारा तैयार की हुई प्रतिमाएँ, इतनी तो भद्दी होती हैं कि मैं नहीं चाहता कि इनका अनावरण करूँ। बहुत बार तो ये महापुरुषों की शक्ल-सूरत से मिलती-जुलती भी नहीं होतीं।

कला का स्तर नीचा क्यों ?

नेहरू की उपर्युक्त उक्तियों में कटु सत्य है। महापुरुषों की बात छोड़िये; भगवान् कृष्ण की मूर्तियाँ, सैकड़ों वर्षों से देश में तैयार हो रही हैं। लगभग आधा भारत तो हम घूम चुके हैं; परन्तु हमने तो कहीं कोई ऐसी मूर्ति नहीं देखी, जिसे मुग्ध हो

दो घड़ी देखा ही करें। कहीं भगवान् कृष्ण को छोकरी-सा बना दिया है, कहीं द्वारिकाधीश के नाम पर काला-कलूटा और बद-सूरत। किसी मूर्ति या प्रतिमा से यह महसूस ही नहीं पड़ा कि वह देश को संगठित करनेवाला महान् राजनीतिज्ञ, गीता के सार्वभौम तत्त्वज्ञान का उपदेष्टा, वीर योद्धा, शान्ति का देवता, राजाओं का राजा, योगेश्वर और अवतारी पुरुष था।

प्रश्न होता है, ऐसा क्यों ? कला सतत साधना का विषय है। वह अव्वल दर्जे का चरित्र, मनोयोग, प्रेम और पुरुषार्थ माँगती है। दो-चार छैनी इधर-उधर मारकर जैसा-तैसा तराश देने से, और हल्के-गाढ़े रंग चुपड़ देने से कलाकृति तैयार नहीं हो जाती। उसके लिए एक-एक भाव-भंगिमा, आकृति और अदा आकर्षक रूप से, उतारनी पड़ती है। सौन्दर्य की हर चेष्टा को, अविकल रूप से, पकड़ना पड़ता है। हरेक रेखा व रंग, स्त्रीत्व या पुरुषत्व, कोमलता व कठोरता के ठीक-ठीक सूचक होने चाहिएँ। दिनोंदिन यदि पसीना बहाते रहो, तब जाकर यह सिद्ध होता है। प्रख्यात चित्रकार माइकेल एंजेलो से किसी ने कहा—'तुम विवाह कर लो न!'

उसने जवाब दिया—'चित्रकारी मेरी ऐसी पत्नी है, जो सौत का रहना बरदाश्त नहीं करेगी।'

इस प्रेम और पुरुषार्थ से कला का जन्म होता है। साधना में कमी होगी, तो कला निम्न कोटि की होगी ही।

प्राचीन कला-कृतियाँ

श्री नेहरू ने आज के भारत की बात कही है, प्राचीन भारत की नहीं। प्राचीन काल में हमारे देश में भी प्रथम कोटि की कलाकृतियाँ जन्म लेती ही थीं। अजन्ता और एलोरा आदि इसके सबूत हैं। यही नहीं, महाभारत और रामायण ऐसी अमर कृतियाँ हैं, जिनकी तुलना के शास्त्र और ग्रन्थ, दुनिया में शायद ही कहीं हों। जो महाभारत में नहीं वह अन्यत्र भी नहीं, जो

महाभारत में है वही अन्यत्र है, ऐसी गर्वोक्ति कम-से-कम आध्यात्मिक ज्ञान के क्षेत्र में, झूठी नहीं कही जा सकती।

फिर कालिदास के काव्य और नाटक!! दो हज़ार वर्षों से उनका अध्ययन-अध्यापन हो रहा है, परन्तु सहृदयों की तृप्ति हुई? कलाकृति इसी को कहते हैं। युग-युग तक जो पुरानी ही न हो, रस की नित्य-नूतन धार से सहस्रों हृदयों को आप्लावित करती रहे, वही सच्ची कलाकृति है। उस कलाकार से पूछो, वाक्य-वाक्य में उसने इतना जादू और चमत्कार, छटा और सौन्दर्य, लोच और लचक, चपलता और प्रवाह, कारीगरी और कमाल, सुकुमारता और ओज, रस और अनुभव कहाँ से भर दिया है? गेटे (Goethe) के मुख से भारतीय कलाकार की गौरव-गाथा सुनिए :—

"शाकुन्तल के सम्पर्क में, जब मैं पहली वार ही आया, तभी मुझे इसने इतना अधिक आकर्षित और उत्साहित कर दिया कि मैं इसे फिर-फिर पढ़ता था और रुक ही न सकता था। क्या कहूँ, जर्मन रंगभूमि के लिए, इसका रूपान्तर करना, भले ही वह अत्यन्त अपूर्ण ही हो, मुझे धर्मरूप ही प्रतीत हुआ।"

"शकुन्तला में सुन्दर स्त्रीत्व अथवा सुन्दर प्रेम का जैसा काव्यगत आलेखन हुआ है, उसकी छाया भी सम्पूर्ण प्राचीन ग्रीक साहित्य में ढूँढ पाना असम्भव है।"

कितने गौरव और कितने गर्व की वात है! हमारे जड़ हृदयों में ऊष्मा ही कहाँ है? हम तो उसे शृङ्गारी और सौन्दर्यप्रेमी ही कहते रहे। वह समग्र जीवन का उद्‌गाता था। उस जैसा राष्ट्र-प्रेमी दूसरा शायद ही कोई महाकवि हुआ हो। दूसरों की आँखें हमें दिखायेंगी, तभी हमें दीखेगा, कितना दुर्भाग्य है! हम तो कहेंगे, सब-कुछ मिट जाय, केवल व्यास, वाल्मीकि और कालिदास की कृतियाँ वच रहें, तो भी दुनिया, युगों-युगों तक, भारत के चरणों में मस्तक श्रद्धा से झुकाएगी ही, उसे जगद्‌गुरु के गौरव से सम्मानित करेगी ही।

वे प्रेमी और पुरुषार्थी थे

उस काल की तो बात ही अलग है। वे लोग साधना करते थे, धन के पीछे हाय-हाय न मचाते थे। वे चरित्र के धनी थे, संयमी और तपस्वी थे, परन्तु साथ ही बड़े मस्त और खुश-मिज़ाज थे। ज़रूर सौन्दर्य-प्रेमी थे, मुर्दादिल न थे, जगत् मिथ्या का रोना न रोते थे। सुन्दर गीत गाते थे, रूखे न थे, उदासीन न थे। आशावादी थे, हिम्मत और हौसले से भरे हुए। कूप-मंडूक न थे, दुनिया के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँच जाने का उनमें जोश और उत्साह था। स्वार्थी न थे, उदार और अध्यव-सायी थे। बड़े-बड़े काम वे कुशलता से कर सकते थे। कल्पना-शील थे, तरंगों में उड़ते थे, जीवन का आनन्द लेना जानते थे। श्री नेहरू ने उन आर्यों के चरित्र के सम्बन्ध में खूब लिखा है—

"ईसा के जन्म के बाद की पहली सहस्राब्दी और उससे पहले के भारत की जो तस्वीर, हमारे सामने आती है वह उस तस्वीर से भिन्न है, जो बाद में मिलती है। उन दिनों के भारतवासी बड़े मस्त, जीवन्त, बड़े साहसी और जीवन के प्रति अद्‌भुत उत्साह से युक्त थे। विचारों के क्षेत्र में तो उन्होंने ऊँची-से-ऊँची चोटियों पर अपने कदम रखे और आकाश को चीर डाला। उन्होंने अत्यन्त गौरवमयी भाषा की रचना की और कला के क्षेत्र में उन्होंने अत्यन्त उच्चकोटि की कारयित्री (Creative) प्रतिभा का परिचय दिया। उन दिनों का भारतीय जीवन घेरों में बन्द न था, न तत्कालीन समाज में ही जड़ता या दीनता की कोई बात थी।"

प्राचीन आर्यों के चरित्र के विषय में यह सब जानकारी उनकी किताबों, कलाकृतियों तथा क्रियाकलाप आदि से होती है। राष्ट्रीय चरित्र को समझने के ये सब उम्दा साधन हैं।

चरित्र का ह्रास

देश में प्रकट होनेवाली आज की किताबों और कलाकृतियों

में, यदि ज़बरदस्त ह्रास के चिह्न प्रत्यक्ष होते हैं तो, मानना होगा कि यह खतरे की स्थिति है। ये चिह्न वस्तुतः देशवासियों के आचरण और चरित्र की अवनति के सबूत हैं। ये प्रमाण हैं पतनशीलता के, दिनोंदिन क्षीण होती हुई साधना, श्रद्धा और संयमशक्ति के। शासन, शिक्षा, न्याय, व्यापार, राजनीति आदि सभी क्षेत्रों में नज़र पड़नेवाला भ्रष्टाचार इसी अधोगति का निर्देशक है। मुसीवतों के चारों ओर मँडलाते हुए भी, देश में जैसा चाहिए वैसा न संगठन है न मज़बूत एकता। स्वार्थ, द्रोह, ईर्ष्या, असूया आदि असामाजिक वृत्तियाँ हद से ज़्यादा बढ़ चली हैं। ये चिह्न हैं चरित्रहीनता के।

ऊँचाई से गिरना अति भयंकर है। दूसरे देशों का इतिहास प्रायः प्रगति का इतिहास है। वे शनैः-शनैः और ऊँचे चढ़ते गये हैं। वे भूल नहीं कर रहे, यह बात नहीं, फिर भी चरित्र की नई-नई ऊँचाइयाँ वे सर करते जाते रहे हैं। इसके विपरीत हम नीचे गिरे हैं, नहीं-नहीं, बहुत नीचे गिरे हैं। क्रान्ति के चिह्न अवश्य हैं; पिछले सौ-पचास वर्षों से हलचल हो रही है, परन्तु जहाँ-तहाँ इतनी विकृतियाँ प्रविष्ट हो चुकी हैं कि हम उठ ही नहीं पा रहे। हम बहे जा रहे हैं; पूर्व वा पश्चिम के किन आदर्शों को लेकर हमें खड़ा होना है, हम निश्चित ही नहीं कर पा रहे। अब किसी ज़बर्दस्त धक्के की या फिर कहिए पैग़म्बर की ज़रूरत है, जो खेकर हमें किनारे की ओर ले जाए। मँझधार में नौका डगमगाती रही, तो डूब जाने का भारी भय है।

हमारे देश में सभी चरित्रहीन हैं, यह तो आशय ज़रा भी नहीं है। अच्छे-बुरे लोग सभी देशों में होते हैं। हमारे यहाँ गांधी, नेहरू, रवीन्द्र, अरविन्द, राधाकृष्णन्, विनोबा आदि अब भी ऐसे चरित्र हैं जिन्हें विश्व की विभूति ही कहना चाहिए। चरित्र की व्यक्तिगत ऊँचाई की दृष्टि से देखा जाय, तो नहीं कहा जा सकता कि देश किसी से पीछे है। परन्तु हम तो समष्टि की बात

कर रहे हैं। राष्ट्रीय चरित्र के लिए, सामान्य प्रजा के चरित्र का ही हिसाब या लेखा-जोखा लेना होगा।

२

प्रकृति का वर्गीकरण

प्रायः दो व्यक्तियों के चरित्र आपस में मिलते नहीं। उनमें अनेक प्रकार की विभिन्नताएँ रहती हैं। ऐसी अवस्था में, सारे देश की प्रजा के चरित्र के सम्बन्ध में निश्चयात्मक ढंग से कोई निर्देश करना कठिन ही है। फिर भी गीता ने मानव-प्रकृति के सतोगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी, इस प्रकार त्रिविध वर्गीकरण कर, वह कार्य वहुत आसान वना दिया है।

सत्त्वगुण का लक्षण—

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम्।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ॥—गीता १४.६

सत्त्वगुण ज्ञान, पवित्रता, प्रकाश और प्रसन्नता का प्रतिनिधि है। सत्त्वगुण की वृद्धि से—

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद् विवृद्धं सत्त्वमित्युत॥—गीता १४.११

वुद्धि की तेजस्विता, विचार, विवेक, दूरदर्शिता, सुख-शान्ति, आरोग्य, आनन्द आदि वढ़ते हैं।

रजोगुण का लक्षण—

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम्॥—गीता १४.७

रजोगुण राग, तृष्णा, आकर्षण तथा कर्म-प्रवृत्ति आदि का प्रतिनिधि है।

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजसस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥—गीता १४.१२

रजोगुण की वृद्धि से महत्त्वाकांक्षाएँ उठती हैं, लोभ बढ़ता है, अनेक प्रकार की प्रवृत्तियाँ शुरू होती हैं। चुपचाप बैठना, शान्ति या सन्तोष रखना, आलस्य प्रतीत होता है। यह लूँ, वह लूँ, यह भोगूँ, वह भोगूँ, यह करूँ, वह करूँ, इसे दबाऊँ, उसे अपने अधीन बनाऊँ आदि इच्छाओं से प्रेरित हो, इधर या उधर दौड़ते फिरने में ही चैन अनुभव होता है।

तमोगुण का लक्षण—

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥—गीता १४.८

तमोगुण अज्ञान, आलस्य, जड़ता, मोह, असावधानता आदि का प्रतिनिधि है। इसकी वृद्धि से—

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन॥—गीता १४.१३

सूक्ष्म विचार करना, उठकर बैठना, कर्म में प्रवृत्त होना, श्रम करना आदि कुछ भी अच्छा नहीं लगता। और तो और, आवश्यक कर्त्तव्यों में भी न उत्साह और न रस जान पड़ता है। पड़े रहने में ही मज़ा आता है। कुछ करना ही पड़े, तो ऐसा लगता है कि सिर पर भारी बोझ आ पड़ा है। कर्म में चित्त लगता ही नहीं। सावधानी और सूझ-बूझ का अभाव होता है। ज्यों-त्यों कर्म पूरा होता है, सैकड़ों भूलें होती रहती हैं; दक्षता व कुशलता की तो आशा ही नहीं की जा सकती।

गुण की प्रबलता के अनुसार प्रकृति

किसी व्यक्ति में केवल सतोगुण ही हो, किसी में केवल रजोगुण व तमोगुण, ऐसा नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति में तीनों गुण विभिन्न मात्रा में रहते ही हैं। यही नहीं, हरेक व्यक्ति में कभी सत्त्वगुण की, कभी रजोगुण की और कभी तमोगुण की प्रधानता होती है। फिर भी, जिस व्यक्ति में, सत्त्वगुण बहुधा (बारम्बार) प्रधान रहता है तथा अन्य दो गुण दबे रहते हैं, उसे सात्त्विक

प्रकृति का कहा जाता है। इसी प्रकार राजस और तामस प्रकृति के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है :—

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा॥—गीता १४.१०

शरीर के साथ तीनों गुण तो रहेंगे ही। दूसरे दो गुणों को दबाकर जो गुण प्रधान, प्रबल व प्रभावशाली होता है, उसी के अनुसार प्रकृति को सात्त्विक, राजस या तामस कहा जाता है।

व्यक्ति की प्रकृति या चरित्र के सम्बन्ध में जो बात सही है, वही देश या जाति की प्रकृति के सम्बन्ध में भी। किसी देश के जातीय चरित्र (National Character) में सतोगुण, रजोगुण या तमोगुण में से किसी एक गुण की प्रधानता होगी, साथ ही अन्य दो गुण अप्रधानरूप से रहेंगे ही।

आजकल के हिन्दुस्तान के जातीय चरित्र के सम्बन्ध में, बहुत-कुछ स्पष्ट विचार आसानी से बनाया जा सकता है, यदि प्रकृति के इस त्रिविध वर्गीकरण में उसका स्थान, हम निश्चितरूप से बना सकें।

३

हम तमोगुणी

हमारी नम्र सम्मति में, आज से हज़ार-डेढ़-हज़ार वर्ष पूर्व के भारत को सतोगुणी कहना होगा तो आज के भारत को तमोगुणी। तमोगुण के साथ-साथ कभी-कभी रजोगुण भी प्रबल होता रहता है। सत्त्वगुण तो प्रायः अभिभूत या दबा हुआ-सा रहता है। हमारा सबसे बड़ा दुर्गुण आलस्य है—

अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम।
दास मलूका कह गए, सबके दाता राम॥

मध्ययुग के सन्त मलूकदास की पंक्तियों में, जिस प्रमादी व परावलम्बी मनोवृत्ति का अंकन है, वह हमारे जातीय चरित्र पर बहुत-कुछ प्रकाश डालती है।

महान् कर्म महान् चरित्र से

आलस्य को मनुष्य का महान् रिपु कहा है—

आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः।

जहाँ आलस्य होगा वहाँ असावधानता, अज्ञान, अप्रामाणिकता, अदूरदर्शिता, अकुशलता, कामचोरी, स्वार्थ, ईर्ष्या, असूया आदि दुर्गुण होंगे ही। इनमें से दो-चार दुर्गुण भी किसी व्यक्ति या समाज में हों, तो उससे कोई महान् कार्य हो सकना मुश्किल ही होता है। महान् कार्य तो स्वयं एक भारी तपस्या है। अध्यवसाय और धैर्य, उत्साह और पुरुषार्थ, संयम और साधना, हिम्मत और साहस, दृढ़ता और मनोयोग, स्फूर्ति और अनवरत विचार आदि गुण हों, तब कहीं जाकर किसी उत्कृष्ट कर्म की सृष्टि होती है। इन्हीं सब गुणों के समुदाय का नाम चरित्र है। यह चरित्र ही समस्त सफलता की वास्तविक नींव है। कर्म में आने वाली सम्पूर्णता व उत्कृष्टता का यही आधार है।

किसी देश में, प्राकृतिक साधन-सामग्री (natural resources), मानव-शक्ति (man-power), धन-सम्पत्ति (capital), टेक्नीशियन्स तथा विचारपूर्ण योजनाएँ आदि प्रभूत मात्रा में हों, परन्तु आवश्यक चरित्र की कमी हो, तो सब बातें धरी-धराई रह जाती हैं और महत्त्वाकांक्षाएँ धूल में मिलती हैं या अधूरी उतरती हैं। मूल मजबूत न हो, तो मकान कैसे खड़ा रह सकता है! 'नाऽस्ति मूलं कुतः शाखा ?'—जब मूल ही न हो तो शाखाएँ कहाँ से होंगी ? इतना ही नहीं, जहाँ तक अपने देश का सम्बन्ध है, अफ़सोस से कहना पड़ता है :—

सन्मूलस्याभावात् प्रसूता विषवल्लयः।

श्रेष्ठ मूल के न होने से सब ओर विष की लताएँ फैल गई हैं।

स्वार्थ की अधिकता

कितना कठिन समय है! चीन और पाकिस्तान का नापाक गठबंधन देश को हड़प जाने के लिए बढ़ रहा है, परन्तु फिर भी

हम निस्पन्द और उदासीन हैं। खून में जो जोश और ज़बर्दस्त उबाल आना चाहिए, वह कहीं नज़र नहीं आता। एक-दूसरे से रूठे हुए, आपस के मतभेदों को लिये बैठे हैं। दूसरों से सह-अस्तित्व की बातें करते हैं, स्वयं मिल-जुलकर रह ही नहीं सकते। इसके या उसके टुकड़े करने के पीछे पड़े हैं, अखण्ड भारत की भावना मन्द पड़ने लगी है। प्रान्तवाद और कौमवाद सब कहीं सिर उठाने लगे हैं। प्रमाद और पामरता पीछा नहीं छोड़ रहे, फिर भी विलास-प्रियता की तरफ घिसड़े चले जा रहे हैं। 'उदार-चरितानान्तु वसुधैव कुटुम्वकम्' की बातें करते हैं, लेकिन वास्त-विकता यह है कि हम अपने कुटुम्ब से भी आगे देख नहीं सकते। स्वार्थ किसमें नहीं ? परन्तु ऐसी संकुचित दृष्टि तथा सिद्धान्तों और आचरण में ऐसा आकाश-पाताल का अन्तर, शायद ही किसी देश में देखने को मिलता हो। जातीय चरित्र की इस कमज़ोरी की ओर श्री नेहरू ने हमारा ध्यान आकर्षित किया :—

'कितनी विचित्र बात है कि अपनी दृष्टि की संकीर्णता, आदतों और रिवाजों की कमज़ोरियों को हम यह कहकर नज़र-अन्दाज़ कर देना चाहते हैं कि हमारे पूर्वज बड़े लोग थे और उनके विचार हमें विरासत में मिले हैं। लेकिन पूर्वजों से मिले हुए ज्ञान एवं हमारे आचरण में भारी विरोध है और जबतक हम इस विरोध की स्थिति को दूर नहीं करते, हमारा व्यक्तित्व विभक्त-का-विभक्त रह जायगा।

'बातें तो हम शान्ति और अहिंसा की करते हैं, मगर काम हमारे कुछ और होते हैं। सिद्धान्त तो हम सहिष्णुता का बघारते हैं, लेकिन भाव हमारा यह होता है कि सब लोग वैसे ही सोचें, जैसे हम सोचते हैं, और जब भी कोई हमसे भिन्न प्रकार से सोचता है, तब हम उसे बर्दाश्त नहीं कर सकते। घोषणा तो हमारी यह है कि स्थितप्रज्ञ बनना अर्थात् कर्मों के प्रति अनासक्त रहना हमारा आदर्श है, लेकिन, काम हमारे नीचे के धरातल पर चलते हैं। और बढ़ती हुई

अनुशासन-हीनता हमें वैयक्तिक और सामाजिक, दोनों ही क्षेत्रों में नीचे ले जाती है।'

सीलोन में सिंहली

हमारे पड़ोसी देश सीलोन में, जनवरी १९६४ से सिंहली भाषा में, शासन का सब कामकाज होने लगा है। हमारे देश की तरह वहाँ भी लगभग १५० वर्षों से अंग्रेज़ी का आधिपत्य रहा है। लेकिन वह आधिपत्य वहाँ अब समाप्त होता है। परन्तु अपने यहाँ? वह देश हमसे पीछे (१९४८ में) स्वतंत्र हुआ; सिंहली हिन्दी से उन्नत भाषा हो यह भी नहीं; उसके मार्ग में कुछ कम मुश्किलें रही हों, यह भी नहीं। फिर भी सीलोन सफल हुआ, हम अपनी प्रतिज्ञाओं में पूरे न उतरे। क्यों? मानो या न मानो, चाहे लाख-लाख बहाने ढूँढो, यह कुबूल करना ही होगा कि सीलोनियों के चरित्र में हमसे कुछ विशिष्ट बात अवश्य है। चरित्र की दृढ़ता के बिना इतने बड़े काम में सिद्धि क्या सम्भव है?

७०,००० के लगभग सरकारी कर्मचारियों को जिन्हें अंग्रेज़ी में कामकाज करने का मुहावरा था, सिंहली सिखाने का भारी काम था। पढ़े-लिखों में अंग्रेज़ी का वहाँ कुछ कम मोह न था। सिंहली भाषा राजगद्दी पर विराजमान होने जितनी विकसित भी न थी। शासन-सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दावली ज़रा भी व्यवस्थित न थी। सिंहली टाइपराइटर न थे, टाइपिस्ट न थे, स्टैनोग्राफ़र न थे। सरकारी कामकाज से सम्बद्ध हज़ारों अंग्रेज़ी हैंडबुकों और परिपत्रों को देशी भाषा में उतारना था। ३० प्रतिशत तमिल-भाषियों के उपरान्त सैकड़ों अंग्रेज़ी पढ़े-लिखों का ज़बर्दस्त विरोध था। सौ-सौ विघ्न थे, असंख्यों मुश्किलें। परन्तु वहाँ राष्ट्रीयता की ज़बरदस्त लहर उठी। सरकार ने सब तकलीफें उठाईं, सात वर्ष तक सतत सख्त पुरुषार्थ किया। योजनाएँ गढ़कर बैठे नहीं रहे, उन्हें पूरा करने के लिए खून-पसीना

बहाया। कहना होगा कि देश के उज्ज्वल भविष्य की उन्होंने नींव डाली। सिद्धि सीलोनियों के चरणों में हैं। ध्रुव सत्य है, चरित्र विजयी है।

देशप्रेम की कमी

सीलोन ने सात वर्षों में जो सिद्ध कर दिखाया, हम ४० वर्षों में भी न कर सके। हम बातें ही करते रहे, लड़ते-झगड़ते ही रहे। सरकार की सुस्ती या प्रजा का असहकार कहिए, या ढीली-पोची नीति कहिए, स्वाभिमान और राष्ट्रीयता की कमी कहिये, कर्त्तव्य के प्रति उपेक्षा या उदासीनता कहिये, सहयोग व समझौते की वृत्ति का अभाव कहिये, स्वार्थ और स्थापित हितों को त्याग न सकने की अनुदारता कहिए, नौकरियों का उग्र लोभ कहिए, संकीर्ण और संकुचित दृष्टि कहिए, सामाजिक गुणों का अपर्याप्त पोषण कहिए, अंग्रेजी का मोह कहिए, देशप्रेम का अभाव कहिए, गुलामी की मनोवृत्ति कहिए, ईर्ष्या-असूया की प्रबलता कहिये, हम नाकामयाब रहे, ४० वर्षों में भी अपनी प्रतिज्ञा पूरी न कर सके। इस नाकामयाबी में, राष्ट्रीय चरित्र की अनेक कमजोरियों को, उभरे हुए रूप में हर कोई देख सकता है। मानो या न मानो असफलता लक्षण है तमोगुण का। कहते हुए दिल दुखता है, मगर स्वार्थवेष्टित प्रमाद या जड़ता हमारे जातीय चरित्र की विशिष्टता है। उपर्युक्त उदाहरण खूब-खूब मुखर (Eloquent) है।

४

भयानक कामचोरी

अपने देश में कामचोरी (तमोगुण का अंग) किस कदर बढ़ती जा रही है, यह भी यशोधर मेहता द्वारा दिये हुए एक उदाहरण से, खूब स्पष्ट होता है। श्री मेहता ने अपने बगीचे में, ३०×२० =६०० वर्गफुट का एक गड्ढा खोदने के लिए, पाँच मज़दूरों को काम पर लगाया। चार दिन पूरे हो गये लेकिन गड्ढा दो फुट

गहरा भी हुआ नहीं। यदि मज़दूर अपना काम ईमानदारी से करते, तो प्रतिदिन २०० वर्गफुट के हिसाब से, तीन आदमी तीन दिन में काम बखूबी खत्म कर सकते थे। तो फिर इन पाँच आदमियों ने किया क्या? ये समय पर आये ही नहीं, वक्त पर कभी काम शुरू किया ही नहीं। वे एक या डेढ़ घंटा काम करके आराम करने, चाय-पानी व बीड़ी आदि पीने व गप्पें लगाने बैठ जाते थे। आठ घंटे के स्थान पर ५ घंटे भी उन्होंने बराबर काम किया नहीं। उनके फावड़े और कुदालें पुरज़ोर से कभी चलीं ही नहीं। फलस्वरूप ६०० वर्गफुट की जगह, गड्ढा ६० वर्गफुट भी तैयार हुआ नहीं।

उपर्युक्त उदाहरण तो उपलक्षणमात्र है। कश्मीर से कन्या-कुमारी तक और कच्छ से कटक तक किसानों और मज़दूरों का यही दुःखद किस्सा है। ब्रिटेन के एक मज़दूर के बराबर यहाँ के तीन आदमी मिलकर भी काम नहीं देते। फिर खेतों और कार-खानों में माल-सामान का उत्पादन बढ़े तो कैसे? दिनोंदिन बढ़ती हुई आबादी को देश खिलाए-पिलाए तो कैसे? सरकार के पास कोई अक्षय पात्र या कोई कामधेनु नहीं है कि वह प्रजा की इच्छानुसार अनाज, दूध, दही और घी आदि छलका-छलका दे और सबके भंडार भर-भर दे। इसके लिए खेतों और कार-खानों में, कसकर काम करने के सिवाय, कोई चारा ही नहीं है। फावड़े और कुदालें पूरे ज़ोर से न चलेंगी, तो सब चीज़ों के भाव उछलेंगे ही, भुखमरी फैलेगी ही, सर्वत्र हाय-हाय होगी ही। सरकार बेचारी क्या करे! दैव को कामचोरी का कुछ-न-कुछ इलाज, आखिर तो करना ही होगा। दयादृष्टि की भी आखिर कोई हद होती है।

मुफ्त की खाने का रोग, जब पढ़े-लिखों में भी भयंकर रूप से फैल गया हो तो फिर अनपढ़ किसानों से कर्त्तव्यनिष्ठा की खाक आशा की जा सकती है? सरकारी विभागों तथा दफ्तरों में, जितना हो सके, काम लंबाया या टाला जाता है। इस विलंब-

नीति के कारण विदेशों के धनिक लोग, हमारे देश के उद्योग-व्यवसायों में अपनी धनराशि रोपने (invest) में, सौ-सौ बार विचार करने को मजबूर होते हैं। फलस्वरूप देश के आर्थिक विकास में जो अवरोध उत्पन्न होता है, उसकी ठीक-ठीक कल्पना करना भी कठिन है।

फुर्सत का समय आलस्य में

फुर्सत जीवन-विकास के लिए अत्यंत आवश्यक है। मनोरंजन के साधनों, कला-कृतियों तथा सुख-सुविधा की वस्तुओं का निर्माण फुर्सत में ही होता है। कहना चाहिए, फुर्सत सभ्यता और संस्कृति का आवश्यक अंग है। साथ ही किसी देश के निवासी, फुर्सत के समय का कैसा उपयोग करते हैं, उसमें उनके चरित्र को समझने में भी पर्याप्त सहायता मिलती है।

यूरोप, अमरीका आदि देशों में स्कूलों और कॉलेजों की लंबी छुट्टियों (Summer Vacation) में, विद्यार्थी देश के विभिन्न भागों का भ्रमण करते हैं। सुविधा के अनुसार आसपास के गाँवों में जाते हैं, सैकड़ों लोगों से मिलते-जुलते हैं तथा देश के रमणीय स्थानों में घूमने-फिरने का आनन्द लेते हैं। इस प्रकार वहाँ के युवक और युवतियाँ, घर में बन्द बैठे नहीं रहते; नये-नये स्थानों और नये-नये लोगों के सम्पर्क में आकर खूब अनुभव प्राप्त करते हैं, और नई-नई बातें सीखते हैं। घर से बाहर निकलकर उन्हें अपने हाथों से ही सब काम करना होता है, इसलिए कठोर परि-श्रम का जीवन व्यतीत करने की तालीम भी वे बचपन में ही पा लेते हैं।

लेकिन हमारे यहाँ! लम्बी छुट्टियों के दिन माँ-बाप के लिए सबसे ज़्यादा मुसीबत के दिन होते हैं। परीक्षाएँ हो जाने से बच्चे पुस्तकों को हाथ लगाते ही नहीं। पत्र-पत्रिकाओं के पढ़ने-पढ़ाने में भी उनका दिल विशेष नहीं लगता। छुट्टियाँ क्या हैं, प्रातः सात-आठ बजे तक बिस्तर पर पड़े रहने का परवाना है। नियम-

पूर्वक न नहाना, न समय पर नाश्ते तथा भोजन आदि के लिए हाज़िर होना, दिन-भर ताश खेलना, पेड़ों पर चढ़ना, गप्पें लगाना, या फिर इधर या उधर पड़े रहना; बहुत हुआ तो लेटे-लेटे, कहानी और उपन्यास की दो-चार पुस्तकें पढ़ना और जब-तब सिनेमा देखने जाने के लिए माँ-बाप को हैरान करना। एक परिवार में दो-चार बालक हुए तो आपस में लड़ना-झगड़ना, सारा दिन शोरगुल मचाना, परन्तु माँ-बाप को उनके कामों में मदद-रूप होने की कोई कोशिश न करना। कहना यही है कि हमारे देश के युवक-युवतियों के छुट्टियों के दिन आलस्य, गप्प-बाज़ी और सोने में ही गुज़र जाते हैं। समय की कैसी बरबादी है!

यदि दो-ढाई महीनों में से कुछ दिन, स्कूल और कॉलेज के विद्यार्थी, आस-पास के गाँवों में जा सकें, वहाँ के लोगों को कुछ सिखा सकें और उनसे कुछ सीख सकें, नये वातावरण के अनुकूल वे अपना जीवन ढाल सकें; जिन ग्रामवासियों के घरों में दस-पन्द्रह दिन रहें, बादशाह बनकर न रहें, अपितु उनके सब कामों में सुबह से शाम तक उनकी मदद करें; किसी पर ज़रा भी भार-रूप न होकर अपने पुरुषार्थी जीवन की उन पर छाप छोड़ जावें, तो उनका स्वयं कितना भला हो, और देश का कितना बड़ा कल्याण हो!

निरर्थक बातें तथा निन्दा-चुग़ली

फ़ुर्सत के समय का उपयोग भी हम नहीं जानते, यह अफ़सोस की बात है। शाम के समय १६-१७ वर्ष का युवक, अपने बाग़-बगीचे के फल-फूल के वृक्षों और पौधों को न पानी पिलाएगा और न ज़मीन की साफ़ा-सूफ़ी के लिए फावड़ा और कुदाल उठाएगा। हाँ, वह बैठे-बैठे पुराने टिकट चिपकाएगा या सिनेमा-एक्टरों और एक्ट्रेसों के चित्रों के, पत्र-पत्रिकाओं में से, कटिंग काटेगा। कैसी खरी मेहनत, कैसा सुन्दर काम, कैसी बढ़िया आदत!

स्कूल-कॉलेज के विद्यार्थियों की ही हमने चर्चा की है। आम जनता भी, अपने यहाँ, फुर्सत का कुछ बड़ा अच्छा उपयोग करती हो, ऐसा नहीं। वह भी आलस्य में, पीठ-पीछे निन्दा-चुग़ली करने में, तथा एक-दूसरे के मामलों में दस्तन्दाज़ी करने में, फुर्सत का समय बर्बाद करती है। इन कीमती क्षणों के सदुपयोग से चरित्र की एक-एक ईंट को मज़बूत बनाया जा सकता था, और ज़िन्दगी का भवन कितना भव्य बनाया जा सकता था? स्वयं सुखी हुआ जा सकता था और दूसरों को भी सुखी बनाया जा सकता था।

५

याद करो कुर्बानी !

देश की चरित्र-सम्बन्धी इन सब बीमारियों का ठीक-ठीक निदान करके, श्री नेहरू ने उम्दा नुस्खा लिख दिया है—

"आराम हराम है"

लेख में नेहरू का उल्लेख बार-बार हुआ है। घाव गहरा व पैना हो तो दिल रो-रो उठेगा ही। सन् १९६४ में (२७ मई को दो बजे), वह दीपक भी बुझ गया, जिसकी जीवन-ज्योति से देश निरन्तर ३५ वर्षों तक जगमग-जगमग हो रहा था। वह खिला हुआ खूबसूरत फूल ही गिर गया, जिससे समूचा वगीचा सुशोभित व सुवासित था। वह जगमगाता सितारा ही टूट गया, जिसकी आभा से अन्तर्राष्ट्रीय आकाश आलोकित था। वह जादूभरी आवाज़ ही बंद हो गई जो जनता के दिलों को तत्काल जीत लेती थी। आवेश और भावनाओं का वह स्रोत ही सूख गया, जो धमनियों में गर्म-गर्म रक्त का संचार कर देता था और नस-नाड़ियों में धड़कन।

नज़ाकत, खुशमिज़ाजी, स्फूर्ति और आवेग की वह रूपसी मूर्त्ति, किसका मन मोह न लेती थी? अजीव खूबसूरती थी, अजीव अदा थी, अजीब आकर्षण था। ओह! क्या कहने, जिसका गुस्से हो जाना और आवेग में आ जाना भी हर-दिल-अज़ीज़ था! जनता इन्तजार करती थी उसकी नाराज़गी और temper lose

करने का भी। पूर्व और पश्चिम के आदर्शों को एक-साथ आलोकित करनेवाला वह प्रकाश-स्तम्भ था।

आशा से बहुत पहले, हमें छोड़कर वह कर्णधार (स्वप्नद्रष्टा, फ़िलॉसॉफ़र, कलाकार, स्टेट्समैन) चला गया। सारी दुनिया को रुला गया, सुनसान या वीरान वन गया। सच कहो, तो यह मृत्यु नहीं, वलिदान है। दिन-रात काम और काम! क्षण-भर जिसने विश्राम नहीं जाना। बीमार होने पर भी, और दैव का संकेत मिल जाने पर भी, जिसने देश की ख़ातिर आराम को हराम ही माना। इसे मृत्यु कौन कहेगा? श्री राजाजी ने ठीक ही कहा है, 'Shree Nehru over-worked himself.' वे चाहते तो कम-से-कम दस वर्ष और जी सकते थे; यदि ऐसा होता तो देश की सब समस्याएँ सुलझ जातीं।' मालूम होता है, दैव ने, देश को आलस्य (तमोगुण) दूर करने के लिए, शायद सबसे वड़ा बलिदान लिया है। हमारी निद्रा-तन्द्रा अब भी भंग हो, तो भला हो।

अगाध देशप्रेम

कर्त्तव्यनिष्ठा और पुरुषार्थ का पाठ पढ़ाने वह आया था। जीवन द्वारा वह 'योगः कर्मसु कौशलम्' का आधुनिक (Modern) भाष्य लिख गया है। उसकी कर्म-निष्ठा का रहस्य था अपने देशवासियों के प्रति अगाध प्रेम। देशवासियों के उमड़ते दरिया को देख-देख उसका दिल वल्लियों उछलता था। सामान्य लोगों के प्रति, एक राजसी पुरुष का ऐसा निश्छल प्यार कम ही देखा गया है। वह उनके लिए जिया और उनके लिए मरा। उनके दुःखदर्द दूर करने के लिए, वह आराम न कर सका। कर्मयोग का रहस्य क्या है, वह जीवन-द्वारा समझा गया है।

नेहरू का-सा देश-प्रेम और उस जैसी कर्त्तव्य-निष्ठा हममें जगे, यही उस विश्व-विभूति के प्रति सबसे सुन्दर और सबसे अमूल्य श्रद्धांजलि है।

३० मई, १९६४

: १३ :

जीवन की कला

श्रद्धा रखकर तुम निश्चिन्त, प्रफुल्ल-चित्त और हरदम मस्त रह सकते हो, तो फिर लोभ में पड़कर उद्विग्न, भयत्रस्त और जीवन को विषादमय बना लेना कहाँ की बुद्धिमत्ता है ?

मनुष्य-स्वभाव का विचार रखते हुए शास्त्र कहते हैं—

'प्रयोजनं विना मन्दोऽपि न प्रवर्त्तते'—किसी प्रयोजन, उद्देश्य व फल की प्राप्ति की इच्छा के बिना, एक मूढ़ मनुष्य भी, किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता। एक व्यापारी, धन कमाने की इच्छा से, कपड़ों की दुकान शुरू करता है। किसान, डॉक्टर, वकील तथा शिक्षक आदि भी, जीवन-निर्वाहार्थ धन-धान्य प्राप्त करने के लिए, अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। आजीविका के लिए अर्थोपार्जन की इच्छा करना कोई पाप नहीं है। मनुष्य के चतुर्विध पुरुषार्थों में अर्थोपार्जन को शास्त्रकारों ने स्थान दिया ही है।

व्यावहारिक सलाह

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूः मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥—गीता २-४७

कर्त्तव्य कर्मों को यथायोग्य ढंग से करने में ही तेरा अधिकार है। उनके फलों को प्राप्त करने में तेरा अधिकार (आग्रह) न हो। फल के लोभ व आग्रह से तू कर्त्तव्य कर्म न कर। कर्त्तव्य कर्म छोड़ देने का तू विचार भी न कर।

फल के विचार और आग्रह में भेद

गीता मनुष्य-स्वभाव के विरुद्ध अथवा कोई अव्यावहारिक चर्चा करने नहीं बैठी है। किसी प्रयोजन के विना ही कार्य में प्रवृत्त हो जाओ, गीता का यह उपदेश नहीं है। आजीविकार्थ धन कमाने (अर्थात् फलविशेष प्राप्त करने) की इच्छा के विना ही व्यापार व खेती आदि कर्म करने लगो, यह गीता का आशय ही नहीं। फल की यह इच्छा या विचार तो सर्वथा स्वाभाविक व निर्दोष है।

यही नहीं, अपने कर्म के परिणाम (फल) का ठीक-ठीक विचार करना, उसको प्राप्त करने के लिए आवश्यक उपायों व साधनों का अवलम्बन करना, तथा कुशल व्यक्तियों के साथ सलाह-मशविरा करके यथायोग्य योजनाएँ वनाना भी, कर्म की सफलता तथा सम्पूर्णता के लिए परमावश्यक ही है—

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते॥—गीता १८-२५

परिणाम का, हानि का, हिंसा का और अपने सामर्थ्य का विचार किये विना, मोह के वश होकर कर्म आरम्भ करना तामस कर्म है। परन्तु इससे बहुत आगे वढ़कर, यह इच्छा करना कि हमको अमुक कर्म का अमुक फल, अमुक परिमाण में और अमुक समय मिलना ही चाहिए, फलेच्छा या फलाग्रह है। ४० वीघे ज़मीन में, मैंने गन्ने बोये हैं। दिवाली के आसपास अमुक शुगर फैक्ट्री में भेज देने से, मुझे २५-३० हज़ार रुपये मिल ही जाने चाहिएँ। अथवा फिल्म-उद्योग में, कोई पिक्चर तैयार करने के लिए, चार लाख रुपये मैंने लगाए हैं। एक वर्ष में चित्र पूरा हो जाना चाहिए और फलस्वरूप मुझे ३५ या ४० हज़ार रुपया मुनाफ़ा ज़रूर मिलना ही चाहिए। यह सव फल का ज्ञान या विचार नहीं है, परन्तु फलेच्छा है अथवा फल का आग्रह व लोभ है। इस आग्रह व लोभ के परित्याग की ही गीता ने सलाह दी है।

सिद्धि सैकड़ों बाह्य बातों पर आश्रित

गीता की यह सलाह अत्यन्त व्यावहारिक है। यह न परलोक की चर्चा है, न आध्यात्मिक सिद्धान्त का निरूपण है।

खेती में, अमुक समय में अमुक लाभ मिल जाना, मनुष्य के हाथ में विल्कुल नहीं है। यह सैकड़ों भौतिक और दैवीय परिस्थितियों पर अवलंबित है। मनुष्य खूब परिश्रम कर सकता है, वुवाई, सिंचाई, कटाई आदि की सुन्दर व्यवस्था कर सकता है। परन्तु अतिवृष्टि से, अनावृष्टि से, फ़सल में कोई रोग उत्पन्न हो जाने से, अथवा चोर-डाकुओं की कुदृष्टि से, किसान की सव गिनती ग़लत ठहर सकती है। यह सव सही-सलामत रहे, तो भी माल को कारखाने या निर्दिष्ट स्थान तक पहुँचाने में, कितनी ही विघ्न-वाधाएँ उपस्थित हो सकती हैं।

गत वर्ष की ही वात है। गन्नों से ठसाठस भरा कारखाने का एक ट्रक, हमारे किसान मित्र के गेट की दीवार से, हमारे देखते-देखते ही, ज़ोर से टकरा गया। दीवार गिर पड़ी, परिणामतः पास में खड़े दो मज़दूरों की मृत्यु हो गई। इस आकस्मिक घटना से, किसान का कारखाने के मालिकों से मतभेद हो गया। केस कोर्ट में गया, खेत की कटाई के लिए मज़दूर मिलना कठिन हो गया। फलतः माल यथासमय कारखाने में पहुँचाया न जा सका। खड़ा-खड़ा खेत सूख चला। वात की बात में हजारों रुपयों का नुकसान हमारे मित्र को उठाना पड़ा।

फिल्म-उद्योग में भी समय पर पिक्चर वन जाना कोई खेल नहीं है। सैकड़ों लोगों के सम्पूर्ण सहयोग की इसमें ज़रूरत रहती है। मुख्य अभिनेता तथा अभिनेत्रियों में से किसी एक के आकस्मिक रूप से वीमार हो जाने से, अथवा इनमें से किसी एक के साथ मतभेद हो जाने से, हो सकता है, पिक्चर यथासमय पूर्ण ही न हो। यदि हो भी जाय तो, हो सकता है, कला की दृष्टि से उसमें आवश्यक उत्कृष्टता ही न आ सके। इन सब कारणों से चित्र-निर्माता (Producer) को लेने के देने पड़ सकते हैं।

छोटे-से काम का फल भी बड़ा अनिश्चित

खेती अथवा फिल्म-उद्योग की तो बड़ी-बड़ी बातें हैं। एक साधारण-से कार्य का फल भी कितना अनिश्चित तथा बाह्य शक्तियों पर किस हद तक आश्रित होता है, यह निम्न उदाहरण से स्पष्ट होगा। देश में हिन्दी के यथायोग्य प्रचार की शुभ आकांक्षा से, 'यूनिवर्सिटियों में हिन्दी का अनिवार्य शिक्षण' शीर्षक से एक लेख लिखकर 'धर्मयुग' (साप्ताहिक पत्र) के सम्पादक को, हमने जुलाई १९६२ में भेजा। सम्पादक ने लेख सहर्ष स्वीकार किया और सितम्बर १९६२ के प्रथम या दूसरे सप्ताह के अंक में उसे प्रकाशित करने की सूचना दी। लेख की स्वीकृति से हमें प्रसन्नता हुई।

परन्तु संयोग की बात है, सितम्बर मास के प्रारम्भ में (Times of India) समाचारपत्र से सम्बन्धित सब पत्र-पत्रिकाओं के दफ्तर में, किसी कारणवश हड़ताल पड़ी। प्रायः दो सप्ताह तक यह हड़ताल जारी रही। इससे हमारा लेख यथासमय प्रकाशित न हो सका। तत्पश्चात् देश पर चीन का आक्रमण हुआ। इसलिए पत्र-पत्रिकाओं में, विशेष प्रकार के लेखों का प्रकाशन आवश्यक हो गया। सरकार की ओर से भी, बहुत-सी सामग्री, इसमें प्रकाशित होने लगी। फलतः भेजा हुआ लेख ५-६ महीनों तक भी प्रकाशित न हो सका। अन्त में सम्पादक ने विवश होकर, अफ़सोस के साथ, लेख वापस कर देना ही उचित समझा। लेख के यथासमय प्रकाशित न हो सकने से, हमें निराशा न हुई, यह कहना मुश्किल ही है। जीवन-कला के बराबर अभ्यासी हम कहाँ बन सके हैं?

बड़ी उम्र के हमारे एक वकील मित्र, २००० रु० की फ़ीस मिलने की आशा से, एक केस लड़ने के लिए कुछ दिन पूर्व दिल्ली गये। वहाँ किसी अच्छे होटल में ठहरे। प्रातःकाल स्नान के समय, बाथरूम में पैर फिसल जाने से वे गिर पड़े, जिससे उनके कन्धे के पास की हड्डी टूट गई। ५-६ डॉक्टरों को बुला-

कर हड्डी ठीक से बैठाई गई और उन्हें हवाई जहाज़ द्वारा दिल्ली से वापस लाया गया। सप्ताहों तक वे बिस्तर से न उठ सके। फलतः २००० फ़ीस के रुपये भी गये, साथ में अपनी प्रैक्टिस में भारी नुकसान हुआ। लेने के देने ही पड़ गए।

श्रद्धा रक्खो, मस्त रहो

इन सब परिस्थितियों का यथायोग्य विचार करते हुए, गीता ने अत्यन्त नेक सलाह दी है कि फल का लोभ न करो। तुम्हारे श्रम और पुरुषार्थ का जो कुछ योग्य फल है, वह तुम्हें अवश्य मिलेगा। जगन्नियन्ता पर श्रद्धा रखो। छोटे-से-छोटे प्राणी के हित का भी उसे निरन्तर ध्यान है।

फिर तुम्हारा कल्याण सफलता में है या असफलता में, यह तुमसे कहीं अधिक अच्छी तरह, उसे मालूम है। अपनी संकुचित दृष्टि से जिस असफलता पर तुम आँसू बहाते हो, हो सकता है, सम्पूर्ण विश्व की दृष्टि से अथवा स्वयं तुम्हारे जीवन के विकास के लिए, वह अत्यन्त आवश्यक हो। ऐसी अवस्था में, यह फल मिले, वह मिले और अमुक अवस्था में मिले, यह सब आग्रह बिल्कुल निरर्थक है। निरर्थक ही नहीं, निराशा, दुःख और दुर्गति का स्वयं आह्वान है।

श्रद्धा रखकर तुम जब निश्चिन्त, प्रफुल्ल-चित्त और हरदम मस्त रह सकते हो, तो फिर लोभ में पड़कर उद्विग्न, भयत्रस्त और जीवन को विषादमय बना लेना कहाँ की बुद्धिमत्ता है!

कर्म में प्रीति

तुम्हारा काम तो अपने कर्त्तव्य-कर्म को रुचिपूर्वक और पूर्ण मनोयोग से करना है। जो कर्त्तव्य-कर्म तुम्हारे भाग में आ पड़ा है, उसे प्रभु का प्रसाद **समझो**। वह चाहे माता-पिता की सेवा हो या बाल-बच्चों का लालन-पालन हो, शिक्षक का पेशा हो या वाणिज्य-व्यवसाय हो, सब पवित्र कर्म हैं। **समीपस्थ** में प्रीति

होना आवश्यक है। जिसे अपना कर्त्तव्य-कर्म अच्छा लगता है वही तो **कर्मण्य** है। वही अपना कर्म पूर्ण तन्मयता और उत्साह से कर सकता है। यह तन्मयता ही फलत्याग की पूर्व सीढ़ी है। कर्म के प्रति तन्मयता, बढ़ते-बढ़ते फल-लालसा को किसी दिन विलीन कर लेगी, यह निश्चित है।

हम यह सब कह तो गए, परन्तु यह करना आसान नहीं है; हम मानते हैं, यह कठिन साधना है। परन्तु मानव भगवान् के अनुरूप बनाया गया है, उसके लिए मुश्किल कुछ नहीं है। साधना के लिए ही उसका जीवन है। श्री के० एम० मुंशी की निम्न पंक्तियों से पता चल सकता है कि कर्त्तव्य में तन्मयता की ज़रा भी अव्यावहारिकता नहीं :—

'सन् १९२० ई० में, मुझे बम्बई प्रेसिडेन्सी एसोसिएशन की ओर से ब्रीफ़ मिली थी—लाहौर जाकर पंजाब हत्याकांड की जाँच में हण्टर कमीशन के सामने प्रजाजन-पक्ष की ओर से प्रमाण उपस्थित करने के लिए। मुझे फ़ीस मिलने वाली थी। मुझे ऐसा लगा कि फ़ीस की रकम, जो होनी चाहिए, उससे कम है। मुझे यह भय था कि मैं अधिक समय तक बम्बई से बाहर रहूँगा, तो मेरी वकालत चौपट हो जायगी। स्वकर्म-विषयक मेरा उत्साह, फ़ीस-विषयक मनोवृत्ति के कारण मन्द पड़ गया था। मेरे कर्म से उत्पन्न होनेवाले फल का विचार, मेरे मन को सता रहा था।

अब अनेक बार मैं स्वदेश के प्रति अपना कर्त्तव्य समझकर मुकदमे लड़ता हूँ। ऐसे कर्मों में सर्वोपरि वृत्ति होती है कर्त्तव्य-पालन की, न्याय प्रस्थापित करने की, निर्दोष को मुक्ति दिलाने की। ऐसे समय, मैं अपनी अल्पशक्ति अपने हाथ के काम पर एकाग्र करता हूँ, मुझे स्वतः को होनेवाले लाभालाभ का विचार इसमें नहीं होता।'

श्री के० एम० मुंशी जिसे भलीभाँति सिद्ध कर सकते हैं, उसे अव्यावहारिक कैसे कहा जा सकता है ?

लोभ नरक का द्वार

फल का लोभी उद्विग्न होता है। फल तक पहुँच जाने के लिए उतावली करता है, नीति-अनीति भुला बैठता है, टालम-टोल करता है, कर्म को टंटा-रूप समझता है। कर्त्तव्य-कर्म के प्रति जिसे उत्साह नहीं, उसका कर्म निर्वीर्य हो, और जीवन सब काल आनन्दशून्य हो, तो आश्चर्य ही क्या? भगवान् की स्वर्गोपम सृष्टि में आनन्द का सब कहीं अकाल क्यों पड़ गया है, इस सबसे कल्पना की जा सकती है। लोभ नरक का द्वार है।

सलाह मानने का सुफल

'मा कर्मफलहेतुर्भूः' इस नेक सलाह का सुफल भगवान् स्वयं बताते हैं—

सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।—गीता २-४८

सफलता-असफलता में, जय-पराजय में समता, शान्ति और प्रसन्नता है। निराशा और विषाद के कठिन प्रसंग में, हँसते मुख और प्रसन्नचित्त रहना, जीवन की बहुत बड़ी सिद्धि है।

जीवन कुरुक्षेत्र या कर्मक्षेत्र है। विविध कर्म किये विना यहाँ छुटकारा ही नहीं। किसी भी कर्म के करने के सैकड़ों ढंग, युक्ति व टेकनीक हैं; उसे ही जीवन-कला कहना चाहिए।

२० मई, १९६३

: १४ :

जीवन-कला की पूर्णिमा

ईश्वर-पूजन में चित्त लगता नहीं, जिसमें चित्त लगता है वह व्यापार-धन्धा आदि सांसारिक कामकाज है। दुहरा पेच है। इस मुश्किल से छुटकारा दिलाना जीवन-कला का काम है।

प्राइमरी कक्षाओं को पढ़ानेवाला कोई शिक्षक, घर के बाल-बच्चों और पति की सेवा करनेवाली कोई गृहिणी, देश की रक्षा के लिए लड़नेवाला कोई सिपाही, किसी मिल या खेत में काम करनेवाला कोई मज़दूर, शाक-भाजी बेचनेवाला कोई व्यापारी अपने कर्म को तुच्छ समझ ले, तो यह भारी भूल होगी। कोई भी कर्म मामूली या तुच्छ नहीं; समाज के लिए उपयोगी सभी काम महत्त्वपूर्ण हैं।

स्वधर्म पवित्र वस्तु है

एक घड़ी में छोटे-बड़े अनेक पुर्ज़े होते हैं। इन सबके सहयोग से घड़ी ठीक-ठीक समय बताने में समर्थ होती है। इन पुर्ज़ों में से किसी को तुच्छ कैसे कहा जा सकता है? एक छोटा-सा पेच भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना डायल या घड़ी की सुइयाँ। शरीर के किस अंग को तुच्छ कहा जा सकता है? आँख का कार्य महत्त्वपूर्ण है, कान का नहीं, ऐसा विचार भ्रमपूर्ण ही है। शरीर के सौन्दर्य, स्वास्थ्य और शक्ति के लिए सभी अवयवों का संगठन आवश्यक है।

फिर भी, कलम लेकर वेदान्त का भाष्य लिखनेवाले एक दार्शनिक, तथा फावड़ा लेकर मिट्टी खोदनेवाले एक मज़दूर का काम समान कोटि का है, यह हम नहीं कह रहे। प्रधानमंत्री और दफ्तर के चपरासी का काम एक कोटि का नहीं माना जा सकता। मिल-मालिक और मांस बेचनेवाले का मूल्यांकन एक-जैसा कैसे हो सकता है? ज्ञान और विद्या की अनवरत उपासना करनेवाले ही समाज के मार्गदर्शक हो सकते हैं। बने-बनाये मार्ग पर चलने के लिए, किसी विशेष प्रज्ञा और प्रतिभा की आवश्यकता नहीं। इसलिए काम की कोटि में छोटे-बड़े का भेद तो अवश्य रहेगा। साम्यवाद की विचारधारा अथवा किसी प्रकार की चिकनी-चुपड़ी बातों से यह भेद मिटाया जा सकता है, हम नहीं मानते।

स्वधर्म में भेद, प्रकृति अनुसार

कर्म में छोटे-बड़े का भेद अवश्य है। हरएक व्यक्ति सेनापति या साहित्यकार नहीं हो सकता, यह सोलहों आने सत्य है। विशेष प्रकार के संस्कार, शिक्षण, ज्ञान, बुद्धि, अनुभव, श्रद्धा, धृति, कर्तृत्व से, मनुष्य की एक विशेष प्रकार की प्रकृति का निर्माण होता है। इस प्रकृति के कारण किसी की प्रवृत्ति विद्या तथा बुद्धि-सम्बन्धी कार्यों में हो सकती है, किसी की युद्ध आदि साहस के कार्यों में; किसी की व्यापार-व्यवसाय में, किसी की कला-कौशल तथा कारीगरी आदि में। प्रकृति के अनुरूप प्रवृत्ति का नाम ही **स्वधर्म** है। प्रकृति के अनुसार प्रवृत्ति (स्वधर्म) में भेद तो होगा ही। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि कोई स्वधर्म हीन या अवगणना-पात्र है। समाज के लिए उपयोगी प्रत्येक कर्म या व्यवसाय, दक्षता या उत्साह से करने में व्यक्ति का गौरव है और समाज का कल्याण है। इसलिए गीता ने बल-पूर्वक कहा है :—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनिष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३-३५

अपनी प्रकृति के अनुरूप कर्म या व्यवसाय, जीवनपर्यन्त करने में मनुष्य का कल्याण है। परधर्म ऊँचा प्रतीत होता हो, अथवा उसका आचरण आसान दिखाई देता हो, तो भी स्वभाव-प्राप्त धर्म ही मनुष्य के लिए श्रेयस्कर है। परधर्म के पीछे पड़ना सबके लिए भयंकर ही है। लोकोक्ति प्रचलित ही है—'तेली का काम तंबोली करे, दैव न मारे आपै मरे।'

स्वधर्म-पालन से सिद्धि

स्वे-स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ॥—गीता १८-४५

अपने-अपने स्वभावसिद्ध व्यवसाय (चाहे वह व्यवसाय ब्राह्मण का हो या शूद्र का हो) को, योग्य ढंग से करता हुआ मनुष्य, जीवन की परम सिद्धि प्राप्त करता है।

जो कर्म जीवन को धन्य बनाने एवं परम सिद्धि प्राप्त करने में समर्थ है, उसे हीन मान लेना हर किसी के लिए विघातक है।

कर्म की श्रेष्ठता व कनिष्ठता वस्तुतः कर्म पर नहीं, अपितु वह कर्म जिस बुद्धि या भावना से किया जाता है उसपर आश्रित है। बुद्धि की इस शुद्धता-अशुद्धता के कारण ही, ब्राह्मण का कर्म करते हुए भी, एक व्यक्ति पामर हो सकता है और दूसरा कोई मांस-विक्रेता व्याध (तुलाधार जैसा) समाज में प्रतिष्ठित हो सकता है। गीता के शब्दों में कर्म की उच्चता व श्रेष्ठता की निम्न कसौटी है :—

नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्विकमुच्यते ॥ १८-२३

अहंकार, राग-द्वेष और फल के आग्रह बिना किया गया कर्त्तव्य-कर्म (स्वधर्म) सात्त्विक कहलाता है।

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ १८-२४

फल की आशा से, 'मैं करता हूँ' इस अहंकार से तथा अत्यधिक धाँधली मचाकर जो कर्म किया जाता है, वह राजस कहलाता है।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म तत्तामसमुच्यते ॥१८-२५

जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और अपनी शक्ति का विचार किये बिना, केवल मोह से शुरू किया जाता है, वह तामस कहलाता है।

शुद्ध और सात्त्विक भावना से किया गया स्वधर्म (चाहे वह फावड़ा चलाना हो, गो-चारण हो या शाकभाजी बेचना हो) योग, युक्ति व कला की पदवी प्राप्त करता है।

स्वर्ग का रास्ता

स्वधर्म का जिसने ठीक-ठीक निश्चय कर लिया, उसने स्वर्ग का रास्ता सचमुच पा लिया है। परन्तु हाँ, स्वधर्म के आचरण में विशेष युक्ति, कुशलता व कला की आवश्यकता अवश्य है। जिसने इस युक्ति या कला को हस्तगत नहीं किया, वह सैकड़ों कष्ट उठाते हुए और अनन्त दौड़धूप करते हुए भी दुर्गति प्राप्त कर सकता है।

धन्धे को ही आध्यात्मिक बना देना

संसारी मनुष्य स्वधर्म का आचरण उदरपूर्ति के लिए करता है, और मोक्ष-प्राप्ति के लिए जहाँ-तहाँ सेवा का अवसर खोजता फिरता है। जहाँ चित्त सम्पूर्ण रूप से एकाग्र हो सकता था, उसे तो वह अपनी संकुचित मनोवृत्ति से धंधे या व्यापार का रूप दे देता है, और ईश्वर-पूजन के लिए मन्दिरों व मस्जिदों में दौड़ता फिरता है। ईश्वर-पूजन में चित्त लगता नहीं, सेवा के लिए अवकाश मिलता नहीं। दिवस में भी धंधा, रात में भी धंधा। दुहरा पेच है, अजीब मुश्किल है।

इस मुश्किल में गीता हमारी मदद को आ पहुँचती है। स्वधर्म और सेवा (व्यापार-व्यवसाय आदि) में, संसारी और पारमार्थिक कर्म में, अज्ञानवश जो भेद खड़ा कर लिया गया है, गीता उसे ढा देना चाहती है। इसी में गीता ग्रंथ की अपूर्वता है। रात-दिवस के व्यवहार ही को परमार्थ, अथवा धंधे को ही आध्यात्मिक बना देने की विशेष युक्ति व कला गीता ने ही प्रस्तुत की है।

धन्धे द्वारा समाज-सेवा

यह युक्ति है, भावना को व्यापक बनाने की। उदरपूर्ति के स्थान पर यज्ञार्थ, लोकहितार्थ, समाज-कल्याणार्थ व जनता-जनार्दन की प्रीति व प्रसन्नतार्थ स्वधर्म (धंधा व व्यवसाय) का पालन करना। इस भावना के बदलते ही, मामूली धंधे का मोल सौ गुना बढ़ जाता है। स्वधर्म ही सेवा या ईश्वरोपासना का रूप धारण कर लेता है। मामूली कर्म भी अभिमंत्रित हो जाता है।

संसारी और साधु

संसारी और साधु, मनुष्यों की ऐसी दो पृथक् श्रेणियाँ बना लेना भ्रमपूर्ण है। स्वधर्म पालन करने की दो दृष्टियाँ या भावनाएँ हैं—उदरपूर्ति तथा लोकसंग्रह (समाज-कल्याण)। स्वधर्म को, जो उदरपूर्ति का साधन बनाता है वही संसारी है, जो लोकहित (सेवा) का साधन बनाता है वही साधु है।

कल्पना कीजिए, दो व्यक्ति शिक्षक का कार्य कर रहे हैं। उनमें से एक शिक्षक का कार्य इसलिए कर रहा है, क्योंकि उसमें उसे रस है। वह विद्या-मन्दिर को, राष्ट्र के नव-निर्माण का पवित्र स्थान समझता है। देश के नवयुवकों को ज्ञान-सम्पन्न और चरित्र-सम्पन्न बनाने के महत्त्वपूर्ण कार्य में वह योगदान देता है। स्वधर्म का पालन वह राष्ट्रोन्नति की दृष्टि से करता

है। वह जानता है कि स्वधर्म-पालन से उसे यथायोग्य वेतन मिलेगा ही। बाल-बच्चों के पालन-पोषण के लिए उसे वेतन की **इच्छा** भी है। परन्तु फिर भी वह वेतन के **लोभ** से अपना कार्य नहीं कर रहा। वेतन तो वह व्यापार आदि में पड़कर कुछ अधिक भी कमा सकता था। वह अपने कार्य के महत्त्व को समझता है और उसमें मस्त है। समाज-सेवा ही उसकी प्रधान भावना है। ऐसा व्यक्ति वेतन लेते हुए भी साधु या परमार्थी है।

इसके विपरीत, दूसरा व्यक्ति शिक्षक का कार्य, प्रधानरूप से वेतन के लिए कर रहा है। उसे अपने कार्य में कोई रस नहीं। बच्चों का योग्य विकास हो, राष्ट्र शक्तिशाली बने, इस सबकी उसे चिन्ता नहीं। उसे मतलब अपने वेतन से है। विद्यार्थियों से उसे कोई प्रीति नहीं, उनके हित में उसे कोई अभिरुचि नहीं। वह बच्चों को पढ़ाता अवश्य है; जितने घंटे कार्य करने का नियम है, उन्हें गिन-गिनकर पूरा करता है। थोड़ा-सा भी अधिक समय, जो कभी, विविध प्रवृत्तियों के लिए देना पड़े, तो कुढ़ता है। 'काम ज़्यादा लेने की पड़ी है, वेतन-वृद्धि तो होती नहीं', यों ही वह जब-तब कोसता रहता है। प्रथम शिक्षक की अपेक्षा, यह अधिक बुद्धिशाली और पढ़ाने के काम में निपुण भी हो सकता है, फिर भी अपनी भावना-विशेष के कारण वह सिर्फ़ वेतन-भोगी है।

वेतन दोनों शिक्षकों ने बराबर लिया। फिर भी एक परमार्थी है, दूसरा वेतन-भोगी। कार्य भी दोनों का एक ही है, परन्तु सिर्फ़ भावना-भेद से एक का कर्म सेवा है, दूसरे का स्वार्थ। एक साधु है, दूसरा सिर से पैर तक संसारी। एक के लिए विद्यादान (स्वधर्म) साध्य है; वेतन, विद्यादान के कर्म में समर्थ होने का साधन-मात्र है। दूसरे के लिए वेतन साध्य है, विद्यादान (स्वधर्म) उसका साधनमात्र है। गीता के शब्दों में एक योगी है, दूसरा भोगी।

दृष्टि बदलते ही कर्म स्वच्छ

ज़रा-सी भावना बदलने की बात है। भावना बदलते ही स्वधर्म का रंगरूप ही सर्वथा बदल जाता है।

कल्पना कीजिए, एक मिल-मालिक उदरपूर्ति के लिए नहीं, अपितु अपने देशवासियों की आर्थिक दशा सुधारने के लिए कपड़े की मिल शुरू करता है। पाँच हज़ार के लगभग ग़रीब लोगों को, उसके उद्योग से मज़दूरी मिल जाती है। ग़रीब भाइयों की सहायता की दृष्टि होने के कारण, वह मज़दूरों का शोषण नहीं कर सकता। वह उन्हें उचित वेतन अवश्य देगा, मिल की व्यवस्था में बोलने-चालने का उन्हें अधिकार देगा तथा वार्षिक लाभ की राशि में से, उन्हें विशेष बोनस इत्यादि देने की योजना भी करेगा। इस तरह की व्यवस्था से, हो सकता है, दूसरे मिल-मालिकों की तुलना में, वह व्यक्तिगत ऐश-आराम व विलास कम कर सके; परन्तु उसकी मिल अन्य मिलों की तुलना में अधिक प्रगति न कर सके, इसका कोई कारण नहीं है। योग्य मज़दूरी मिलने से तथा मिल के वार्षिक लाभ में भाग होने से मज़दूर कितने अधिक उत्साह से काम करेंगे, यह कल्पना की जा सकती है। अन्ततोगत्वा सद्व्यवहार और उत्साह अपना फल न लावें, यह कैसे हो सकता है? फल की व्यवस्था तो भगवान् करेंगे, परन्तु दृष्टि बदलने से कर्म कितना स्वच्छ और निर्दोष हो गया? लूट-खसोट का वह साधन न रहा; ग़रीब भाइयों की सहायता का द्वार बन गया।

दृष्टि-दोष से दुर्गति

दृष्टि-दोष ही दुनिया की दुर्गति का मुख्य कारण है। पेट-पूजा की दृष्टि ही सब कहीं प्रधान बन बैठी है। अपने श्रम से अपने पेट भरने की बात होती, तब भी ग़नीमत होती। आज तो, दूसरे के मुँह का ग्रास कैसे छीन लिया जाय, इसी की तरकीबें सब कहीं गढ़ी जा रही हैं। पसीना दूसरे बहाएँ, फल हम खा लें,

इसकी योजना दो-चार लोग ही नहीं, राष्ट्र-के-राष्ट्र बना रहे हैं। परिणाम-स्वरूप सर्वत्र छीना-झपटी व विषमता है। कुछ लोगों के पेट, चर्बी चढ़ जाने से खूब फूल गए हैं; दूसरी ओर करोड़ों लोगों के पेट पिचके पड़े हैं। जहाँ परस्पर सहयोग, सहानुभूति और समविभाग से सब आनन्द कर सकते थे, वहाँ आनन्द का ही अकाल पड़ गया है। ये भी दुःखी, वे भी दुःखी। एक ओर चिन्ता है, दूसरी ओर ईर्ष्या और असूया; इधर भय और आशंका है, उधर विद्वेष और विद्रोह। आग कब भड़क उठे, कौन कह सकता है?

योग्य दृष्टि

बाहर-भीतर सर्वत्र शांति और संतोष रहे, इसलिए भगवान् ने आदेश दिया है—

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर॥—गीता ३-९

यज्ञार्थ अर्थात् लोकहित की दृष्टि से, आसपास के लोगों की भलाई के विचार से, अथवा देशोन्नति की विशाल भावना से किया हुआ कर्म, धीमे-धीमे स्वच्छ होता चलता है। उससे वासनाओं का उत्तरोत्तर क्षय होता है और चित्त शुद्ध होता है। चित्त की सम्पूर्ण शुद्धि का नाम ही मोक्ष है। इसलिए उपदेशों का उपदेश यही है कि उदरपूर्ति के लिए नहीं, यज्ञार्थ (समाज-हित व जन-कल्याण की भावना से) स्वधर्म पालन कर। यही वह कुशलता या युक्ति है, जो कर्म को कला का रूप दे देती है।

ब्राह्मण को, अर्थ-प्राप्ति के लिए नहीं, परन्तु समाज के अज्ञान को दूर करने के लिए अपनी विद्या, बुद्धि तथा प्रतिभा का उपयोग करना है। क्षत्रिय को, प्रभुत्व की वृद्धि के लिए नहीं, अपितु समाज के अन्याय को दूर करने के लिए और प्रजा की रक्षा के लिए अपने बाहुबल, साहस व क्षात्रवृत्ति का सदुपयोग करना है। वैश्य को, ऊँचा महल खड़ा करने के लिए नहीं, अपितु

समाज में प्रवर्तमान अनेक प्रकार के अभाव (ग़रीबी, रोग आदि) दूर करने के लिए उद्योग-धंधों और वाणिज्य-व्यवसाय का आयोजन करना है। इसी प्रकार शूद्र को भी पेटपूर्ति के लिए नहीं, अपितु उपर्युक्त वर्णों की परिचर्या के लिए शारीरिक श्रम, मज़दूरी व कला-कारीगरी इत्यादि अपनानी है।

लोकहित की यह भावना जितनी परिपुष्ट होती जाती है, स्वधर्म (चाहे वह किसी भी वर्ण का कर्म हो) उतना ही प्रशंसनीय, प्रतिष्ठायोग्य और ईश्वर-पूजारूप होता जाता है। गीता की दृष्टि में, यही उत्कृष्ट कला है, यही आध्यात्मिक प्रगति है, और सच्ची उपासना है।

कला का नाम बहुत ऊँचा है; परन्तु इससे आतंकित होने की लेशमात्र भी आवश्यकता नहीं है। कर्म में और कला में बहुत बड़ा भेद नहीं है। योग्य कर्म को ज़रा युक्ति से और ठीक ढंग से करने पर वह कला की पदवी पा लेता है। क्रिकेट का एक खिलाड़ी, जिसका बैट पकड़ने का ढंग ग़लत हो, कदम आगे-पीछे रखना (foot-work) ठीक न हो तथा गेंद (ball) को मारने के Timings आदि अशुद्ध हों, उसे, वह चाहे कितने ही चौके (boundaries) मार लेता हो, उजड्ड ही कहा जायगा। इसके विपरीत, जो खेल की सम्पूर्ण टेकनीक समझता हो और जिसका बैट पकड़ना आदि सर्वथा शुद्ध हो, वह चाहे शुरू में सैकड़ों रन (centuries) न कर सके, कलाकार अवश्य कहलायगा। अपनी कला के कारण वह सफल भी होगा और क्रीड़ा-जगत् में प्रसिद्ध भी होगा।

ठीक ढंग से कर्म करने से, कर्म कला की पदवी पा लेता है; इतना ही नहीं, कर्म का बोझा भी कम हो जाता है; श्रम कम पड़ता है, साथ ही कर्म की स्वच्छता और कुशलता सौ गुनी बढ़ जाती है। दुनियादार मुनियों की-सी मेहनत करता है, परन्तु दृष्टि ग़लत होने से फल बिल्कुल नगण्य-सा पाता है—

क्षान्तं न क्षमया गृहोचितसुखं त्यक्तं न संतोषतः
सोढा दुःसहशीतवाततपनक्लेशा न तप्तं तपः।
ध्यातं वित्तमहर्निशं नियमितप्राणैर्न शंभोः पदं
तत्तत्कर्म कृतं यदेव मुनिभिस्तैस्तैः फलैर्वञ्चिताः ॥

—भर्तृहरि

न दौड़-धूप बढ़ानी है, न विशेष क्लेश-कष्ट सहन करने हैं। ज़रा-सी दृष्टि सुधारकर दुनियादार, मुनि और योगी हो सकता है, कितनी सुनहली बात है!

३० मई, १९६३

: १५ :

बुद्धि की सलामती

प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ।।—गीता २-६४

जिसका चित्त निर्मल है, उसे बुद्धि भगवान् की आवाज़ ज़रूर सुनाती रहती है।

१

इन्सान को भगवान् ने बुद्धि और हृदय ये दो अनुपम वस्तुएँ दी हैं। इन्हीं से वह जगत् का सरताज तथा शृङ्गार है। बुद्धि ज्ञान की प्रतिनिधि है, हृदय प्रीति का। बुद्धि से वह ज्ञान-विज्ञान की शोध कर सकता है और अपना कर्त्तव्य ठीक-ठीक पहचान सकता है। हृदय से वह सबको अपना सकता है और कठोर-से-कठोर कर्त्तव्य भी पूर्ण करने की शक्ति प्राप्त करता है। संसार-क्षेत्र में विजय पाने के लिए, मनुष्य को इससे अधिक क्या चाहिए?

बुद्धि और हृदय वरदान हैं

बुद्धि और हृदय के यथायोग्य विकास से मानव कितना महान् बन सकता है, इसका ज्वलंत उदाहरण अभी-अभी महात्मा गांधी हम सबके सम्मुख प्रस्तुत कर गए हैं। प्रसिद्ध विज्ञान-वेत्ता आइन्स्टाइन ने ठीक कहा है कि प्रेम का यह पैग़ंबर इतना तो महान् है कि, आगे आनेवाली पीढ़ियों को यह यक़ीन होना ही मुश्किल होगा कि, ऐसा कोई महात्मा पृथिवी

पर अवतरित भी हुआ था, या यह सब कवियों की निरी कल्पना ही है।

बुद्धि के विकास से मनुष्य जहाँ देवतुल्य बन सकता है, वहाँ उसके विकारग्रस्त होने से वह पशु से भी बदतर हो जाता है। रावण का उदाहरण हमारे सम्मुख है। वह अनेक शास्त्रों का अभ्यासी था, कुशाग्र-बुद्धि था, परन्तु उसने बुद्धि का उपयोग सेवा के लिए नहीं, स्वार्थ सिद्ध करने के लिए किया; सृजन के लिए नहीं, संहार के लिए बुद्धि का दुरुपयोग किया। इससे वह महापंडित होते हुए भी राक्षस कहलाया। यही नहीं, उसका जीवन निरर्थक हो गया।

बुद्धि के सदुपयोग से जीवन में स्वर्ग रचा जा सकता है, दुरुपयोग से घोर नरक। प्रश्न यह है कि बुद्धि और हृदय, जिनके सदुपयोग पर ही सुख-शान्ति अवलंबित है, विकृत कैसे होते हैं? गीता ने सूत्र-रूप में यह स्पष्ट किया है :—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥ २-६६

असंयमी की बुद्धि भ्रष्ट होती है, असंयमी का हृदय विकृत होता है। परिणामतः वह सद्भावना-रहित होता है। ऐसा व्यक्ति न शान्ति पाता है न सुख।

अयुक्त कौन? जिसे पूर्ण इन्द्रियजय प्राप्त नहीं; शरीर को कुकर्म से रोकनेवाला, परन्तु मन से विषयों का सेवन करनेवाला। जिसे मन पर काबू नहीं, ऐसा असंयमी पुरुष अयुक्त कहलाता है।

पहले हृदय विकृत

असंयमी का हृदय क्रम-क्रम से कैसे विकृत होता है, नीचे के श्लोक में स्पष्ट किया गया है :—

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥—गीता २-६२

जिसे बाह्य इन्द्रियनिग्रह तो प्राप्त है, परन्तु रसजय या मनोजय नहीं, ऐसा व्यक्ति मन-ही-मन विषयों का ध्यान-चिन्तन या स्वाद लेता है। शुरू में यह ध्यान निर्दोष प्रतीत होता है, परन्तु धीरे-धीरे ध्यान से विषय के प्रति लगाव (Attachment) या **स्नेह** हो जाता है। लगाव या स्नेह से, उस विषय (पदार्थ) के बिना रहना मुश्किल मालूम होता है। फलतः उस पदार्थ को हस्तगत करने की प्रबल इच्छा (काम, लालसा) उत्पन्न होती है। इस **काम** (कामना, विषय को अपना बना लेने की प्रबल इच्छा) से **क्रोध** उत्पन्न होता है, अर्थात् हृदय में हलचल या खलबली मच जाती है। वह क्षुब्ध-विक्षुब्ध हो उठता है। शांत प्रवाह भंग हो जाता है। फलतः वह अस्वच्छ, गंदा-मैला या विकारग्रस्त हो जाता है।

किसी गड्ढे के स्वच्छ पानी को हिला देने से, जैसे नीचे बैठा सब कीचड़ ऊपर आ जाता है, ठीक उसी प्रकार हृदय में कामना (अयोग्य वस्तु हस्तगत करने की लालसा) के घुस आने से वह नीचे से ऊपर तक हिल उठता है, जिससे नीचे दबे हुए विकार और वासनाएँ उभर आती हैं। सद्भावनाएँ और शुभ वृत्तियाँ नीचे चली जाती हैं। देखते ही देखते इन्सान पशु बन जाता है। काम का कैसा कमाल है?

इस प्रसंग में, दृष्टान्त रूप से, प्रेमचन्द के लिखे 'प्रेमाश्रम' उपन्यास के ज्ञानशंकर पात्र की ओर संकेत करना असंगत न होगा। लखनऊ के ताल्लुकेदार रायसाहब कमलानन्द की रूपवती और सुशीला पुत्री विद्यावती से, ज्ञानशंकर का विवाह हुआ था। बाल-बच्चे थे। उसे उच्च-शिक्षण प्राप्त हुआ था। अंग्रेज़ी में प्रभावशाली वक्तृता कर सकता था। पत्र-पत्रिकाओं में उसके उच्चकोटि के लेख छपते थे। व्यवस्था-शक्ति अपार थी; जिस कार्य को उठा लेता था, सफलता से पूरा करने की योग्यता रखता था। खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने की ज़रा भी कमी न थी। ज़मींदारी थी, पर्याप्त पैसा था, परन्तु···परन्तु संयम न था।

रायसाहब की दूसरी बेटी गायत्री विधवा थी, परन्तु वह पति की बड़ी भारी ज़मींदारी की वारिस बनी थी। ज्ञानशंकर के दिल में गायत्री और गायत्री की ज़मींदारी हस्तगत करने की लालसा (काम) उत्पन्न हुई। गायत्री के साथ जैसे-जैसे मेल-जोल बढ़ता गया, वह उसे अपनी पत्नी विद्या से कहीं अधिक रूपवती और गुणवती लगने लगी। घर में दिल अब न लगता था। गायत्री के पास पहुँच-पहुँच जाता था। वासनाएँ उभड़ने लगीं, पशु-वृत्तियाँ जागृत हुईं। गायत्री के शरीर-स्पर्श के लिए जी छटपटाने और बेचैन रहने लगा। आखिर वह हुआ जो न होना चाहिए था। अभद्र-वर्ताव से गायत्री के दिल में अवज्ञा उत्पन्न हुई। ज्ञानशंकर का अपना घर उजड़ गया। विद्या में—जिसके रूप और शील पर वह कभी मुग्ध था, अब उसे दोष ही दोष दिखाई देते थे।

असंयम से ज्ञानशंकर-सा ज्ञानी व साक्षर भी राक्षस बन सकता है, उपन्यासकार ने यह अतिशय कलात्मक ढंग से विशद किया है। प्रेमाश्रम को 'ध्यायतो विषयान् पुंसः…बुद्धिनाशात् प्रणश्यति' आदि श्लोकों का सुन्दर भाष्य ही कह लीजिए। पुस्तक पठनीय है, इसीलिए हमने कहानी की ओर विस्तार से संकेत किया है।

काम से क्रोध

कहना यही है कि असंयमी पुरुष के दिल में यह या वह वस्तु पाने की लालसाएँ उत्पन्न होती ही रहती हैं। इन्हें दमन (Control) करने की जो भरसक कोशिश नहीं करता, उसे ही **अयुक्त** या असंयमी कहिए। लालसा (काम) से नीचे दबी पड़ी पशुवृत्तियाँ उभड़ आती हैं, सद्भावनाएँ दब जाती हैं। फलस्वरूप सम्पूर्ण हृदय विकारग्रस्त और मलिन हो जाता है। कोमलता का स्थान कठोरता ले लेती है। सचाई की जगह छल-कपट, दयामाया की जगह निष्ठुरता, प्रेम की जगह घृणा,

लज्जा-हया की जगह बेशर्मी तथा क्षमा की जगह असहिष्णुता ले ले, तो हृदय में फिर रह ही क्या गया? वह उजाड़ और वीरान है। ओह! असंयम कहाँ से कहाँ पहुँचा देता है?

काम अन्तःशत्रुओं का सेनापति है

फिर काम तो क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि अन्तः-शत्रुओं का सेनापति है। हृदय-दुर्ग में काम घुस आया, तो फिर उसकी फौज अपने सब साथी-संगियों के साथ चढ़ आएगी ही। यह काम ही तो न चाहते हुए भी सब पाप कराता है:—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥—गीता ३.३७

काम का पेट कभी भरता ही नहीं। यह महापापी बड़े से बड़ा पाप करानेवाला है। मनुष्य का यही शत्रु नम्बर एक है। असंयमी द्वार पर खड़े होकर लड़ता नहीं, लहूलुहान हो नहीं जाता। वह दुश्मन को दुर्ग में आने देता है। फलतः हृदय उसके हाथ नहीं रहता।

२

बुद्धि के कार्य

बुद्धि का कार्य विचार करना है। प्रसंग-विशेष में कौन-सी प्रवृत्ति योग्य है, यह निर्णय करना इच्छा-विशेष का औचित्य-अनौचित्य निश्चित करना, किसी कर्म के पूर्ण करने के लिए कौन-से उपाय और साधनों का अवलम्बन करना होगा तथा उनके इष्ट-अनिष्ट कौन-से परिणाम होंगे, यह सब पूर्व से सुझाना बुद्धि का काम है। इसके साथ ही उठती हुई वृत्तियों, आवेगों, विकारों व भावनाओं को, विचारों के अप्रतिहत तेज व सर्वसमर्थ शक्ति से शुद्ध करने, मर्यादित करने, विकसित करने तथा दिशा-विशेष में नियोजित करने का आवश्यक कार्य भी बुद्धि द्वारा होता है। जेम्स सेथ ने कहा है—

'ज्ञान के क्षेत्र में बुद्धि, जैसे संवेदनों (sensations), इन्द्रियानुभवों को व्यवस्थित करती है, उसी प्रकार नीति के क्षेत्र में वह मनोवृत्तियों को व्यवस्थित करती है।' संवेदनों की सुव्यवस्था का नाम **ज्ञान** है, मनोवृत्तियों की सुव्यवस्था का नाम **सदाचार**। इस प्रकार स्पष्ट है कि संपूर्ण ज्ञान तथा सदाचार का आधार अंततोगत्वा बुद्धि ही है। इसीलिए तो आचार्य चाणक्य की प्रार्थना है :—

'बुद्धिस्तु मा गान् मम'

मेरा सब-कुछ चला जाय, परन्तु बुद्धि सही-सलामत रहे। बुद्धि के शुद्ध और सही-सलामत रहने पर ही, मनुष्य भले-बुरे का प्रसंग-विशेष में, ठीक-ठीक निर्णय कर सकेगा। यों कहिए कि वह गिरकर भी उठ सकेगा। बुद्धि गई तो समझिए कि इन्सानियत भी गई। इन्सानियत न रही तो फिर सर्वनाश ही है।

बुद्धि भ्रष्ट कैसे ?

बुद्धि कहीं जाती नहीं है, भ्रष्ट और विकृत होती है। बुद्धि भ्रष्ट होती है असंयम से। जैसे वर्णन किया जा चुका है, पहले हृदय विकारग्रस्त होता है। विकार प्रबल होकर बुद्धि पर आघात करते हैं, जिससे वह बेचारी शुद्ध निर्णय करने में असमर्थ हो जाती है। निम्न पंक्तियों में यही वर्णन है :—

क्रोधाद् भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥—गीता २.६३

क्रोध—हृदय की क्षुब्ध या विकारग्रस्त अवस्था—से मूढ़ता (बुद्धि की मूर्च्छित अवस्था) आती है, अर्थात् बुद्धि की सारी प्रखरता व तीक्ष्णता (स्वकार्य-समर्थता) कुंठित हो जाती है। बुद्धि-मूर्च्छा से स्मृति भ्रष्ट होती है। मनुष्य को न अपनी सही स्थिति का भान रहता है, न सम्मुख खड़े व्यक्ति की शक्ति, सेवा और उपकारों का। स्मृतिभ्रंश से बुद्धि नष्ट हो जाती है, अर्थात् वह विकाराधीन हो जाती है। जो बुद्धि विकारों की हाँ में हाँ मिलाने

लगी, कर्त्तव्य-निर्णय करने का अपना आवश्यक धर्म छोड़ बैठी, उसे नष्ट हुई ही कहा जायगा।

प्रकृत उदाहरण पर आइये। एक दिन एकांत पाकर, ज्ञानशंकर ने कामोत्तेजना से जलते अपने हाथों में, गायत्री का सुकुमार हाथ ले लिया। जीजा की इस कुचेष्टा से भोली-भाली गायत्री काँप उठी। उसने झट से अपना हाथ खींच लिया; कुछ कह न सकी, परन्तु मुँह फेर लिया, और आँसू वहाने लगी। ज्ञानशंकर समझ गया कि प्रेम का स्वाँग भरकर लालसा पूर्ण करना यहाँ कठिन है।

गायत्री यह सव भुलाने के लिए, लखनऊ से गोरखपुर चली गई और अपनी ज़मींदारी की व्यवस्था में व्यस्त रहने लगी। इसी वीच, सुयोग से रायसाहव की प्रेरणा से, ज्ञानशंकर ने पत्र-पत्रिकाओं में, गायत्री की प्रशंसा में कुछ सुन्दर लेख लिखे। इनसे गायत्री की सव ओर वाह-वाह होने लगी। अपनी इस प्रशस्ति में, वह सव रोष भूल गई और ज़मींदारी की व्यवस्था के लिए उसने ज्ञानशंकर को वुला भेजा।

पत्नी की प्रार्थना अवज्ञापूर्वक ठुकराकर, ज्ञानशंकर गोरखपुर पहुँचा। ज़मींदारी की सुव्यवस्था द्वारा गायत्री को खुश कर लिया। उसका मन जीतने के लिए वह अव कृष्णभक्ति का स्वाँग भरने लगा। सूरदास के प्रेम-विरह के गीत गाते हुए झर-झर आँसू वहाता था और भक्ति के आवेश में गायत्री को कभी-कभी राधा कह वैठता था। यह सव-कुछ वह समझती न थी। उसका भक्तिभरा भोला दिल प्रेम-विह्वल हो उठता था। निशाना ठीक बैठा था। वात वढ़ चली। उनकी कृष्णभक्ति की जहाँ-तहाँ चर्चा होने लगी।

इस वीच रायसाहव ने ज्ञानशंकर को अपने पास वुलाकर, उसे अपनी वेटी को भ्रष्ट करने की चेष्टाओं से वाज़ आने को कहा। कामांध को नेक सलाह कैसे सुहाती? वह भान भूल गया और श्वसुर को, अपने मार्ग का सवसे वड़ा काँटा समझ, ज़हर दे

बैठा।

इधर विद्या ने पति को कुमार्ग से रोकने का फिर एक वार प्रयत्न किया। परन्तु लालसोन्मत्त की अक्ल में एक न बैठी। पत्नी को खूब खरी-खोटी सुनाई और वह फिर गायत्री की सेवा में गोरखपुर पहुँचा। फिर उसी तरह कृष्णलीला चलने लगी। एक दिन गायत्री को राधा के रूप में, ज्ञानशंकर के चरणों में अर्पण होते हुए और ज्ञानशंकर को उसे लालसा के साथ अपनी छाती से ज़ोर से लगाए हुए, विद्या ने अपनी आँखों से देखा। पति की इन कपट-लीलाओं से आहत होकर वह सरलहृदया जी न सकी। ज़हर खाकर दुनिया से विदा हो गई।

ज्ञानशंकर ने गायत्री की लाखों की जायदाद ज़रूर हासिल की, परन्तु पति-परायणा पत्नी वह खो बैठा। जिसके लिए सब कुकर्म किया था, वह पुत्र भी उसके आदेशों में न रहा। प्रतिष्ठा गई, पश्चात्ताप करना चाहा, परन्तु प्राणान्त के विना शांति मिल न सकी।

कहानी लम्बी ज़रूर हो गई, परन्तु इससे खूब ज्ञात होता है कि एक पढ़ा-लिखा प्रतिभाशाली व्यक्ति लालसावश हुआ, किस प्रकार भान भूल बैठता है, और धीरे-धीरे बाह्य संयम भी खो देता है। एक से बढ़कर एक कुकर्म करने लगता है। विषय-लालसा से बुद्धि का यह कैसा दुरुपयोग ! गायत्री और उसकी विशाल जायदाद हथियाने की लालसा (काम) में ज्ञानशंकर न पड़ता, तो अपनी बुद्धि-प्रतिभा से वह साहित्य-सृजन कर सकता था, अपनी ज़मींदारी की सुयोग्य व्यवस्था द्वारा लखनपुर गाँव की प्रजा का भला कर सकता था, अनेक सत्कर्मों द्वारा समाज में यश और प्रतिष्ठा स्थापित कर जीवन को सार्थक कर सकता था।

सात्त्विक बुद्धि की ओर प्रगति

केवल बाह्य इन्द्रियजय काफ़ी नहीं है। रस—विषय-स्वाद—के जय की कोशिश न करते रहने से, विषयों का सेवन करते हुए

मन के पंजों में, बुद्धि के कभी-न-कभी पड़ जाने की आशंका बनी रहती है। मन की पकड़ में आ जाय, तो बुद्धि अपनी सब सात्त्विकता खोकर राजस और तामस होने लगती है। सात्त्विक बुद्धि का निर्णय अचूक होता है :—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥ १८.३०

राजस और तामस बुद्धि के निर्णय अयथार्थ व विपरीत होते हैं :—

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥ १८-३१, ३२

सर्व प्रयत्न से सात्त्विकता की ओर प्रगति करने के स्थान पर राजस-तामस की ओर बढ़ना मानव-जीवन की भयंकर अधोगति है।

४ मई, १९६४

: १६ :

सुख-शान्ति का रास्ता

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥—गीता ५-२२

Self-mastery is the greatest conquest; it is the basis of all enduring happiness. —Mother

१

यह सही है कि स्वार्थ, मतलब या लालसा-विशेष के पूर्ण करने के लिए, बुद्धि का उपयोग या दुरुपयोग करने से, दुनिया में बहुत-सा पैसा मिल जाता है, प्रतिष्ठा भी प्राप्त होती ही है, परन्तु गीता 'आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्'—आत्मा को सुरक्षित रखने के लिए पैसा तो क्या संपूर्ण पृथिवी को भी छोड़ देने की फ़िलॉसफ़ी में विश्वास रखती है। इसलिए सत्य या धर्म (आत्मा) को बेचकर प्राप्त किया हुआ सब वैभव-विलास, गीता की नज़रों में पाप है। बुद्धि का दुरुपयोग मनुष्य का सर्वनाश ही है।

शान्ति कैसे ?

पाप की बात दो घड़ी जाने दीजिए। प्रश्न तो शान्ति और सुख का है। इन्हें जीवन की सबसे क़ीमती वस्तुएँ कहना चाहिए। हर कोई इन्हें पाने के लिए प्रयत्नशील है। परन्तु विरले ही हैं, जो इन्हें सचमुच प्राप्त करते हैं। सामान्य मानवों के चेहरे पर

चिन्ता और विषाद की रेखाएँ ही नज़र आती हैं। ऐसा क्यों? संसारी तपस्या किसी क़दर कम नहीं करता, परन्तु उसका रास्ता ही एकदम ग़लत है। उसे अपनी बुद्धि पर बेहद भरोसा है। वह समझता है छलछन्द से, चालाकी और दम्भ से सब काम बन जायगा। इसलिए वह न शास्त्रों की बात श्रद्धा से सुनता है, न सन्तों के अनुभव से कुछ सीखता है। विधि उसकी मूर्खता पर मुस्कुराता है।

सद्भावनाओं से

गीता बलपूर्वक कहती है कि हृदय में मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा आदि सुन्दर भावनाओं के विकास से ही शान्ति मिलना सम्भव है। रागद्वेष, ईर्ष्या, असूया, लोभ, मोह, दम्भ आदि शान्ति के शत्रु हैं। कवि Petrarch ने कहा है :—

'Five great enemies to peace inhabit with us: viz. avarice, ambition, envy, anger, and pride. If these enemies are to be banished, we should infallibly enjoy perpetual peace.'

गीता के १६वें अध्याय में दया, अहिंसा, सरलता, क्षमा, मृदुता, अद्रोह, निरभिमानता, अलोलुपता आदि शुभ भावनाओं को दैवी सम्पत्ति कहा है; क्रोध, पारुष्य, अभिमान आदि को आसुरी सम्पत्ति। दोनों के परिणाम की यों घोषणा की है :—

'दैवी सम्पद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।'—गीता १६-५

ज्ञान से

पुनरावृत्ति की जरा भी परवाह किये बिना यही सिद्धान्त दूसरे शब्दों में गीता यों प्रस्तुत करती है—

श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्ति अचिरेणाधिगच्छति ॥—गीता ४-३९

श्रद्धावान् और संयमी पुरुष ज्ञान प्राप्त करता है। ज्ञान-

प्राप्ति के पश्चात् ही सच्ची और चिरन्तन शान्ति अनुभव होती है।

ज्ञान का अर्थ पुस्तकीय ज्ञान नहीं; इतिहास, भूगोल आदि विषयों, नियमों व सिद्धान्तों की जानकारी नहीं; वेदान्त पर लम्बा-चौड़ा व्याख्यान देना नहीं; समाजवाद या साम्यवाद की सुन्दर मीमांसा करना नहीं। यह सब तो शाब्दिक या अक्षर-ज्ञान है। अक्षरज्ञान भी जीवन में जरूरी है। परन्तु गीता की दृष्टि में ज्ञान का अर्थ संस्कृति या संस्कारिता है, बुद्धि की मदद से हृदय में उतारी हुई शुभ भावनाएँ हैं :—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥
असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥१३-७, ८, ९
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ १३-११

श्रवण, मनन, अनुभव तथा विचार-मन्थन आदि के परिणाम-स्वरूप विकसित होनेवाली निरभिमानिता, अहिंसा, क्षमा, सरलता, स्थिरता आदि सद्भावनाओं के समुदाय को, गीता ज्ञान कहती है। विस्तार न करना हो तो कह सकते हैं :—

आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति ।

सब प्राणियों के प्रति आत्मीयता की भावना के विकास का नाम ही परम ज्ञान है। गीता के शब्दों में :—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ ६-३२

लोक में वेदादि शास्त्र कण्ठस्थ करनेवाला ज्ञानी माना जाता है। परन्तु गीता की दृष्टि में ज्ञान की खरी कसौटी अनुराग या आत्मीयता की भावना का विस्तार है। जो सारी वसुधा को कुटुम्ब समझ सकता है, वही सच्चा ज्ञानी है। हृदय

का विकास अथवा जीवन का विकास उसी ने सिद्ध किया है। सच्ची शान्ति का वही अधिकारी है—

'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।'

जहाँ द्वैत, अपना-परायापन है, वहाँ वैर-विरोध, शोक, मोह, उद्वेग तथा व्याकुलता न हो, यह शक्य ही नहीं। अंग्रेज राजनीतिज्ञ (Brougham) का कथन है—

Real knowledge, in its progress, is the fore-runner of liberality and enlightened toleration.

वास्तविक ज्ञान उदारता (विशालहृदयता) और परिपक्व सहिष्णुता का अग्रदूत है।

Dickens की ज्ञान की व्याख्या गीता से मिलती-जुलती है :—

A Loving heart is the truest wisdom.

हृदय का प्यारभरा होना ही सच्चा ज्ञान है। सद्भावना का सार प्रेम है। यह सच्चे ज्ञान का मधुर फल है। इसलिए प्रेम को ही ज्ञान की पराकाष्ठा कहा जा सकता है। ज्ञान के इसी अर्थ को सम्मुख रखकर गीता ने शान्ति को ज्ञान की अनुयायिनी बताया है।

'न चाभावयतः शान्तिः' इस सूत्र पर रस्किन का निम्न भाष्य कैसा सुन्दर है :—

No peace is ever in store for any of us, but that which we shall win by victory over shame or sin,—victory over the sin that oppresses, as well as over that which corrupts.

२

सुख कैसे ?

'अशांत को सुख नहीं', इसे गीता का एक सिद्धान्त कह लीजिए। चित्त में दंभ और पाप होने पर, आत्मा भीतर से कचोटती और डंक मारती रहती है। काँटा हर घड़ी खटकता हो, तो फिर ऐश्वर्य और विलास सुलभ होने पर भी, शान्ति व सुख कौन अनुभव कर सकता है ?

मोह

संसारी का विश्वास इससे विपरीत है। उसे सांसारिक ऐश्वर्य पर भारी भरोसा है। इसीलिए भारी तपश्चर्या करने के पश्चात् भी उसके हाथ, रत्न नहीं, घोंघे ही लगते हैं। फिर भी वह ठीक राह पर आने का नाम नहीं लेता, यह कितना आश्चर्य है! इस प्रसंग में, स्पेन देश के अब्दुल रहमान नामक महा-पराक्रमी बादशाह की सलाह ध्यान देने योग्य है। बादशाह ने स्पेन पर ५० वर्ष न्यायपूर्वक राज्य किया था। सुख के दिनों का हिसाब रखने के लिए, उसने एक रोज़नामचा रखा था। उसका कहना है कि ५० वर्षों में उसके केवल १४ दिन ही सुख से गुज़रे हैं :—

I have now reigned above fifty years, beloved by my subjects and respected by my allies. Riches and honours, power and pleasure have waited on my call, nor does any earthly blessing appear to have been wanting to my felicity. In this situation, I have numbered the days of happiness which have fallen to my lot; they amount to fourteen. O Men, place not thy confidence in this present world !

सैकड़ों वर्ष तक राज्य-सुख का उपभोग करनेवाले ययाति राजा का अनुभव इससे ज़रा भी भिन्न नहीं :—

न जातु कामः कामानां उपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

फिर भी मनुष्य न मानता है, न बस करता है। इसी का नाम मोह है। सुख के लिए दुनिया के ऐश्वर्य पर भरोसा रखना, यही मनुष्य का सबसे बड़ा मोह है। इस मोह को दूर करने के लिए, गीता ने कितनी ही बार कहा है कि सुख बाह्य वस्तुओं पर नहीं, चित्त-शुद्धि से उत्पन्न शान्ति पर ही अवलंबित है। यह मोह मिटाना ही बड़ी बात है। दूसरे धर्मग्रन्थों का जन्म भी मुख्यरूप से इस मोह के निवारण के लिए ही हुआ है।

सृष्टि सुख-साधनों से भरपूर है। फिर भी सुखी तो दो-चार ही हैं; अधिकांश लोग तो शोकताप से पीड़ित हैं। कारण यही कि उपर्युक्त मोह से मुक्त ज्ञानी लोग, दुनिया में, दो-चार से अधिक कहाँ हैं? और वे…वे तो दो-चार वस्तुएँ पाकर ही सुखी हैं। जबकि मूर्ख ने कसम खाई है कि पृथिवी पर सोना बरसे, तब भी वह हाय-हाय ही करेगा। कहा है न :—

न कहापणवस्सेन तित्ति कामेसु विज्जति।
अपि दिव्वेसु कामेसु रतिं सो नाधिगच्छति॥

स्वर्ग-सुख मिलने पर भी मूर्ख भूखा का भूखा ही रहेगा।

(क) चित्त-शुद्धि से

गीता ने यह मूलभूत बात, अत्यन्त अनुभव-भरे शब्दों में, समझाई है कि सच्चा सुख हृदय और बुद्धि की शुद्धि पर ही निर्भर है :—

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तं आत्मबुद्धिप्रसादजम्॥ १८-३७

विषय तथा इन्द्रिय के संयोग से उत्पन्न सुख, रोग-शोक-परिणामी होने से, वस्तुतः सुखाभास है,—अमृत नहीं, विष है।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥ १८-३८

(ख) संयम से

उपर्युक्त बात को ही दूसरे शब्दों में यों कहा है :—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥५-२३

सुख और संयम का अटूट सम्बन्ध है। दुनिया में सुखी वही होगा, जो संयमी है। संयमी वही है, जो काम और क्रोध का वेग रोक सकता है। संयमी की कैसी सरल, सुबोध और परिपूर्ण व्याख्या गिने-चुने शब्दों में प्रस्तुत की गई है!

सब इच्छाओं को जो मार दे, वह संयमी नहीं, जड़ है। ऐसा होना शायद स्वाभाविक भी नहीं। संयमी असल में वह है जो मात्र सम्यक् इच्छाएँ (Right desires) रखता है। और सुख! सुख का यही रहस्य है। रोम के प्रसिद्ध संत Augustine ने ठीक कहा है :—

Happiness consists in our having only right desires.

मूल बात को हृदयांकित करने के लिए, फिर, नये ढंग से कहा है :—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।१८.५४

जो मात्र सम्यक् इच्छाएँ रखता है, वह दुःखी नहीं होता। दुःखी वह नहीं होता, जिसका हृदय शुद्ध व निर्मल है। शुद्धचित्त वह है जो ईश्वर जैसा कामक्रोधादि-शून्य और प्रेम-दयादि का समुद्र है :—

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ १८-५३

(ग) प्रसाद से

शांतिपर्व में कहा है 'सुखाद् बहुतरं दुःखं जीविते नास्ति संशयः' संसार में सुख की अपेक्षा दुःख ही अधिक है। फिर भी गीता, सब दुःख सदा के लिए दूर करने का दावा करती है :—

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते। २.६५

सब दुःखों के सब काल के निवारण की रामबाण ओषधि, चित्त की शुद्धि व निर्मलता है। यह दवा कोई ऐसी मुश्किल भी नहीं, जिसके लिए दुनिया छोड़नी पड़ती हो और गिरि-कन्दराओं में भटकना ज़रूरी हो :—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥ २-६४

दुनिया में घूमने-फिरने से दिल बिगड़ ही जाता हो, ऐसा कुछ नहीं। दिल बिगड़ता है, द्वैत से। द्वैत दूर हो जाए, तो फिर

यह शुद्ध ही शुद्ध है। प्यार से इसे छलोछल भर लिया जाय, तो द्वैत (रागद्वेष) आप-से-आप दूर हो जायगा। फिर तो पड़ोसियों की भलाई में रस आने लगेगा। यह स्वाद लग गया, तो फिर दूसरे सब स्वाद फीके पड़ जाएँगे। फिर तो लोगों की सेवा आदि में ही इन्द्रियाँ लगी रहेंगी। इसी सदुपयोग के लिए इन्द्रियाँ मिली हैं। इनका इस प्रकार सदुपयोग करनेवाले को, चारों तरफ़ विषयों की बहार होने पर भी, विषयों का भय क्यों हो? वे तो उसकी सिद्धि के साधन बनेंगे। इन्द्रियों के सदुपयोग करनेवाले का दिल, संसार में घूमते-फिरते भी शुद्ध ही रहेगा।

उपर्युक्त तथ्य को George Eliot के शब्दों में, अधिक प्रभाव-शाली ढंग से, यों प्रस्तुत किया जा सकता है :—

We can only have the highest happiness, by having wide thoughts and much feeling for the rest of the world as well as ourselves.

खूब विचार और विस्तृत प्रीति से दिल शुद्ध होता है और उससे उच्च कक्षा का सुख प्राप्त होता है।

उपसंहार

(क) मोक्ष वग़ैरह की सब बातें छोड़कर, हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि 'सर्वस्य सुखमीप्सितम्' सबको सुख ही ईप्सित है। यही वह इष्ट वस्तु है जिसकी प्राप्ति के लिए दुनियाभर की सब प्रवृत्तियाँ हैं। व्यास महर्षि के शब्दों में 'इह खलु अमुष्मिंश्च लोके वस्तु प्रवृत्तयः सुखार्थमभिधीयन्ते। न ह्यतः परं त्रिवर्गफलं विशिष्टतरमस्ति।' धर्म, अर्थ, काम आदि विविध पुरुषार्थ का भी प्रयोजन सुख ही है। फिर भी जिसे सुख प्राप्त करना है, उसे यह याद रखना ही होगा कि इच्छनीय (desirable) सुख नहीं, कर्त्तव्यपालन (धर्म) है :—

Happiness is not the aim of life. The aim of ordinary

life is to carry out one's duty; the aim of spiritual life is to realise Divine.

—Mother

(ख) सुख, संसार में रहते हुए भी, प्राप्त हो सकता है यदि मनुष्य उलटे-सीधे रास्ते न अपनाता फिरे। सुख के पीछे बेतहाशा दौड़ लगाने से, सुख हाथ आता हो, कभी नहीं सुना गया। इसे हासिल करने का सच्चा मार्ग निम्न है। सुख तक पहुँचने की चार सीढ़ियाँ हैं :—

(१) सर्वश्रेष्ठ सुख वही प्राप्त करता है जो अपना चित्त सर्व प्रयत्न से, शांत कर लेता है—

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ —गीता ६.२७

जिसका मन भलीभाँति शान्त हुआ है, दूसरे शब्दों में जिसके विकार शान्त हो गए हैं, जो पापरहित हो गया है, ऐसा ब्रह्म-सदृश आत्म-विजयी, संयमी पुरुष, श्रेष्ठतम सुख अवश्य प्राप्त करता है।

(२) शान्ति फल है प्रेम का; मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा आदि सद्भावनाओं का।

(३) सद्भावनाओं के विकास के लिए सम्यक् विचार व बुद्धि की स्थिरता की ज़रूरत है। भावनाएँ प्रचण्ड शक्ति हैं, उन्हें मारने की सब बातें अस्वाभाविक हैं। ये बुद्धि का अनुसरण करें, प्रबल होकर विद्रोह न खड़ा करें, परन्तु बुद्धि का शासन मानें, तो बस है।

(४) बुद्धि का शासन शरीर पर चले, इसके लिए ज़रूरी है 'कामविजय'। लड़ते-लड़ते भले ही लहूलुहान हो जाए, पर काम को जो दिल में न प्रविष्ट होने दे, वही शूरों में शूर या महादेव है। वही सम्यक् विचार कर सकेगा। इसीलिए सलाह दी है :—

पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् । ३-४१
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् । ३-४३

(ग) काम ज्ञान-विज्ञान का नाश करनेवाला है। इस काम पर विजय पाने का नाम ही संयम है।

(घ) सुखरूपी तरु का मूल संयम है। शान्ति, प्रीति, भक्ति, ज्ञान (बोध), विवेक-विचार आदि इसकी शाखा-प्रशाखाएँ हैं। संयम की इसी महत्त्वपूर्ण स्थिति के कारण शास्त्रों में उसे धर्म का प्रधान स्तंभ माना है:—

दमेन सदृशं धर्मं नान्यं लोकेषु शुश्रुम।

दम (Self-control) के समान अन्य कोई धर्म नहीं।

८ मई, १९६४

: १७ :

भावों का महत्त्व

'न चाभावयतः शान्तिः' —गीता २-६६

सुन्दर भावों के बिना जीवन और जगत् में शान्ति असम्भव है।

शिशु के छोटे-से हृदय में सुख-दुःख (Pleasure & Pain) की सामान्य अनुभूति-भर के लिए जगह होती है। जब उसका पेट भरा होता है, वह खुश होता है; जब पेट खाली होता है, वह व्याकुल होता है। इस सुख-दुःख या खुशी-व्याकुलता को वह रोने और हँसने के द्वारा प्रकट करता है।

भावों का उद्भव

ज्यों-ज्यों वह बड़ा होता है, दुनिया के विविध विषयों का उसे ज्ञान होता है तथा उनसे सम्बन्धित अनेक प्रकार की इच्छाएँ उसके हृदय में उत्पन्न होने लगती हैं। विषयबोध की इस विभिन्नता तथा उससे सम्बन्ध रखनेवाली इच्छाओं की अनेक-रूपता के साथ, सुख-दुःख की सामान्य अनुभूति के जो विभिन्न योग संघटित होते हैं, उन्हें हम मनोवेग या भाव (Emotion) कहते हैं। पहले अच्छी लगनेवाली वस्तु या व्यक्ति से बालक को सुख की सामान्य अनुभूति होती थी और बस। परन्तु अब उसके युवा हृदय में अच्छी लगनेवाली उस वस्तु या व्यक्ति को हस्तगत करने की, उसके साथ लगे-लगे फिरने की या उसपर एकमात्र अपना अधिकार कर लेने की इच्छा उदय होती है। सुखानुभूति

और इस इच्छा के योग से, लोभ या प्रेम नामक भावों का उद्भव होता है।

भय, क्रोध, शोक, हर्ष, ईर्ष्या, द्वेष, उत्साह, घृणा, करुणा आदि सब भावों के विकास की यही कथा है।

भाव क्रिया-प्रवर्तक हैं

विभिन्न प्रकार के भाव अनन्त शक्ति के स्रोत हैं। मनुष्य को विभिन्न कार्यों में प्रवृत्त करनेवाले भाव ही हैं। हम दिन-रात अध्ययन में लग जाते हैं, अपने-आपको खूब सजाते और सँवारते हैं, किसी की सेवा और सहायता बड़ी लगन से करते हैं, अपना चरित्र सुधारने लगते हैं, देश-सेवा के लिए सब-कुछ बलिदान करने को उद्यत होते हैं, जीवन के लिए किसी मार्ग का अवलम्बन कर लेते हैं, विशेष-विशेष प्रकार के भावों या मनोवेगों के कारण। शुद्ध ज्ञान अथवा तर्क-बुद्धि में, क्रिया में प्रवृत्त करने के लिए आवश्यक वेग और उत्तेजना उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है। कोई काम अच्छा है, या लाभदायक है, इस ज्ञान-मात्र से ही हम उस काम में प्रवृत्त नहीं हो जाते। जब उस काम अथवा उसके परिणाम की कोई बात, हर्ष, शोक, क्रोध, भय, उत्कण्ठा, करुणा आदि भावों को उत्तेजित करती है, वस्तुतः तभी हम उस काम को करने के लिए उद्यत होते हैं। कहना यह है कि हमारी समस्त प्रवृत्तियों और क्रियाओं के मूल प्रवर्त्तक भाव ही हैं।

भाव और स्वभाव

भावों या मनोवेगों के ही विभिन्न प्रकार के संघटन से तथा उनके बार-बार दुहराये जाने से उत्पन्न होनेवाली स्थिरता से ही, हमारे विशेष प्रकार के दृष्टिकोण (Attitude), स्वभाव, प्रकृति (Temperament), आदतों अथवा चरित्र का निर्माण होता है। हम क्रोधी, चिड़चिड़े, हँसोड़, विनोदी, ईर्ष्यालु, घमण्डी,

ज़िद्दी, प्रेमी, लोभी, दयालु, डरपोक, वीर आदि जो कुछ हैं, उसके मूल में मुख्य रूप से हमारे हृदय के भाव ही हैं। इससे मानव-जीवन में भावों का क्या महत्त्व है, यह समझा जा सकता है।

भाव और स्वास्थ्य

भावों का हृदय की गति, पाचन-क्रिया, श्वास-प्रश्वास की क्रिया तथा अनेक प्रकार के पोषक और उपयोगी रस उत्पन्न करनेवाली ग्रंथियों (Glands) की क्रियाओं के साथ बड़ा गहरा सम्बन्ध है। प्रेम, हर्ष, उत्साह, हास्य, गर्व, औत्सुक्य, मृदुलता, आशा, सन्तोष, धैर्य, आदि सुन्दर भावों से इन सब आवश्यक शारीरिक क्रियाओं में बड़ी भारी सहायता पहुँचती है, जिससे मनुष्य का स्वास्थ्य उत्तम बनता है, जीवन-शक्ति (Vital energy) परिपुष्ट होती है तथा मुख पर क्रान्ति और दीप्ति विराजती है। इसके विपरीत अनावश्यक क्रोध, भय, ईर्ष्या, द्वेष, जलन, घृणा, चिन्ता, शोक आदि से रक्त में अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न हो जाते हैं, अपच और अजीर्ण की शिकायत हो जाती है, शरीर अस्वस्थ, दुर्बल और कान्तिहीन हो जाता है। कहने का अभिप्राय यही है कि दूषित भावों से, भरी जवानी में ही बुढ़ापा अपने दल-बल समेत अपना साम्राज्य जमा लेता है।

एक बार एक व्यक्ति हमारे पास आया। उसे फोड़े-फुन्सियों की, वर्षों से तकलीफ़ थी। उसने हमें बताया कि वह ऐलोपैथिक, होम्योपैथिक, आयुर्वेदिक तथा यूनानी आदि सभी इलाज कराकर देख चुका है, परन्तु उसे कुछ भी लाभ नहीं हो रहा है। पूछताछ कर हमने उसके मनोवेगों और भावों को सूक्ष्मता से पढ़ने का प्रयत्न किया और यह पाया कि वह मानसिक रूप से सर्वथा अस्वस्थ है। उसे धीरज बँधाया और बड़े स्नेह तथा सहानुभूति से कहा कि तुम ज़रा-ज़रा-सी बात पर क्रोध करते हो, उत्तेजित हो जाते हो और व्यर्थ में ही चिढ़ते, जलते और मन-ही-मन कुढ़ते

रहते हो। इन सबसे लाभ क्या है? तुम्हारे रक्त-विकार या फोड़े-फुन्सियों का, जिनके कारण तुम इतने दुःखी हो रहे हो, एक-मात्र कारण, तुम्हारे अपने भाव ही हैं। इन्हें तुम बदल दो, स्वस्थ और सुन्दर भावों को हृदय में स्थान देने का प्रयत्न करो, तुम विल्कुल ठीक हो जाओगे।

दुःखित व्यक्ति ने हमारी बात मान ली। कुछ ही महीनों के वाद, फिर मिलने पर, वड़ी खुशी के साथ, उसने हमें बताया कि वह अव फोड़े-फुन्सियों से छुटकारा पा गया है।

भाव और सुख-दुःख

जीवन के समस्त सुख-दुःख का मूल भी हमारे अपने मनोवेग या भाव ही हैं। पिता-पुत्र की आपस में वनती नहीं, पति-पत्नी में आपस में प्यार नहीं, गुरु-शिष्य में एक-दूसरे पर विश्वास नहीं, सास-वहू में परस्पर वैमनस्य है, भाई का भाई जानी दुश्मन है, पड़ोसी की सुख-समृद्धि से हमारी छाती जलने लगती है, घर-घर में कलह और क्लेश है, हम इसको, उसको जो कोई भी हमारे निकट सम्पर्क में आता है, कोसने लगते हैं। सारी दुनिया हमें दुश्मन के समान खाने दौड़ती हुई दिखाई देती है। रोते-झींकते और जलते-कोसते हमारा जीवन ज्यों-त्यों बीतता है। इस सवका एकमात्र कारण यही है कि भावों के उचित विकास और प्रसार से, दुनिया के सव पदार्थों और व्यक्तियों के साथ, हमारा जिस प्रकार के अनुराग का सम्वन्ध स्थापित होना चाहिए था, वह स्थापित नहीं हो सका है। इसीलिए हमारे पास सव-कुछ होते हुए भी हम दुःखी और दरिद्र हैं। भगवान् के स्वर्गोपम संसार को, हमने अपनी ग़लतियों से ही नरक बना लिया है।

भावों का प्रवाह योग्य दिशा में

अपने दूषित भावों, ग़लत दृष्टिकोण और बुरी प्रकृति को हम संकल्प और विवेक के वल से बहुत-कुछ बदल सकते हैं। यदि

हम अपने प्रयत्नों में सफल हो सकें, तो यह पृथिवी फिर स्वर्ग वन सकती है, सब दुःख, दरिद्रता और दुश्चिन्ताएँ दूर हो सकती हैं।

क्रोध, भय, प्रेम, घृणा, हर्ष, शोक आदि मनोवेग या भाव कोई पाप नहीं हैं। मन की ये अत्यन्त स्वाभाविक अवस्थाएँ हैं। जीवन के लिए सभी परम आवश्यक और उपयोगी हैं। इन्हें दबाने या मार देने के सब उपदेश पाखण्ड मात्र हैं। इन्हें न दबाया जा सकता है, और न मारा जा सकता है। आवश्यकता तो समुचित पथ-प्रदर्शन (Right direction) की है। तोड़-फोड़ और ध्वंस-विध्वंस करनेवाली जल की बाढ़ को नियंत्रित करके तथा उसे अभीष्ट दिशाओं में प्रवाहित करके, जैसे हम अनन्त लाभ उठाते हैं, वैसे ही अपने भावों के यथायोग्य नियंत्रण, विकास और परिष्कार द्वारा हम विद्युत् से भी अधिक तेजस्वी शक्ति प्राप्त कर सकते हैं, जिससे हमारा जीवन दिव्य और महिमाशाली वन सकता है।

भावों के उचित विकास के लिए यह आवश्यक है कि बचपन से ही ध्यान दिया जाय। माता-पिता तथा शिक्षकों को यह अनुभव करना चाहिए कि बालक के बौद्धिक विकास की अपेक्षा उसके भावों का समुचित विकास कहीं अधिक आवश्यक है। भावों के यथायोग्य विकास, प्रसार तथा परिष्कार के लिए सुन्दर साहित्य का अध्ययन, सत्पुरुषों की संगति तथा विद्वान् सन्तों का आशीर्वाद आदि बहुत अधिक सहायक हैं।

२५ जनवरी, १९५७

: १८ :

कर्म और भक्ति का मिलन

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ।। गीता ९-२७

गीता ने मन्दिरों और मस्जिदों को गिराया नहीं, फिर भी पत्थरों की चारदीवारी में भक्ति को क़ैद किया नहीं। गीता ने भक्ति को नये वस्त्र और अलंकार पहनाये हैं। उसे उन्मुक्त रूप से विचरने के लिए—खुले जगत् में ला खड़ा किया है।

(१)

हज़ारों वर्ष हो गए, पर गीता पुरानी पड़ती ही नहीं। इसका अध्ययन-अध्यापन दिनोंदिन बढ़ता जाता है और अधिकाधिक विचारक, इससे नित्य आकर्षित होते जाते हैं। गीता में ऐसी कौन-सी बात है ?

गीता की विशिष्टता

गीता में कर्ममय जीवन, अनासक्ति एवं फलत्याग का उपदेश है। ज्ञान-विज्ञान की विस्तृत चर्चा भी भगवान् ने छेड़ी है। साथ में ही भक्ति का स्रोत भी गीता में उमड़ पड़ा है। कहा जा सकता है कि संसार के दूसरे धर्मग्रंथों में भी ये सब बातें, थोड़े-बहुत अंशों में, उपलब्ध होती ही हैं। फिर गीता की विशिष्टता

क्या ? पूर्व और पश्चिम के विद्वानों, भक्तों और दार्शनिकों को समान रूप से यह सदियों से मन्त्रमुग्ध क्यों किये हुए है ?

कर्म और भक्ति का मेल

संक्षेप में कहें तो गीता ने ही सर्वप्रथम और सुन्दरतम ढंग से कर्म और भक्ति का सुमेल सिद्ध किया है। गीता में न कोरे धर्म का उपदेश है, न कोरी भक्ति का। गीता भक्तिमय कर्म या कर्मप्रधान भक्ति का नूतन सन्देश लेकर उपस्थित हुई है। कर्म कठिन और शुष्क था; भक्ति विलास मात्र थी, निष्प्राण और निरर्थक। गीता ने दोनों का गठबन्धन कर कर्म को सरस और सुगम बना दिया है तथा भक्ति को समर्थ और सार्थक।

आठवें अध्याय में भगवान् ने एक ही साँस में कहा है :—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च। ८-७

'निरन्तर मुझे स्मरण रख और संग्राम में जूझ !'

'संग्राम' और 'स्मरण' दोनों साथ-साथ कैसे सध सकते हैं, यही विकट प्रश्न है।

'संग्राम' में जूझने का अर्थ है समाज के प्रति अपने कर्त्तव्य का पूर्ण निष्ठा से पालन करना—अपने माता-पिता की सेवा करना, बाल-बच्चों को पढ़ाना-लिखाना तथा उनके पालन-पोषण के लिए यथायोग्य व्यवस्था करना ; दफ़्तर जाना, दुकानदारी करना। तात्पर्य यह कि सुबह से शाम तक दुनिया के भिन्न-भिन्न व्यवहारों में तत्परता से जुटे रहना। दुनिया के धंधों में जो इस प्रकार पड़ा हुआ है, वह हर घड़ी परमेश्वर का श्रवण, कीर्तन, ध्यान, स्मरण, चिन्तन आदि कैसे कर सकता है ? भगवान् को अभिषेक आदि कराने तथा उनके सम्मुख धूप, नैवेद्य आदि चढ़ाने की संसारी को फुर्सत ही कहाँ है ? भक्ति तो निवृत्ति का मार्ग है; संग्राम में जूझना, घोर प्रवृत्ति का मार्ग है। फिर निवृत्ति और प्रवृत्ति का मेल क्या ? भक्ति-मार्ग का अनुयायी कर्म को हीन और अनावश्यक समझता है, जबकि कर्म-मार्ग का

अनुयायी भक्ति को निष्कर्मण्यता व निठल्लापन मानता है। फिर दोनों का समन्वय कैसे हो ?

इस कठिन पहेली को गीता ने 'ईश्वरार्पण कर्म' इस सूत्र द्वारा सुलझाया है। 'ईश्वरार्पण कर्म' का क्या तात्पर्य है तथा इस सूत्र से भक्ति और कर्म में सुमेल कैसे सिद्ध होता है, यह दिखाना ही इस लेख का उद्देश्य है।

गीता के उपदेश का सार, तत्त्व या निचोड़ 'ईश्वरार्पण कर्म' इन गिने-चुने शब्दों में रखा जा सकता है। गीता का यही मध्य-विन्दु अथवा हृदय है।

(२)

"ईश्वरार्पण कर्म' का अर्थ

'ईश्वरार्पण कर्म' का अर्थ है अपना कर्म ईश्वर को अर्पण करना। संसारी मनुष्य कर्म तो दिन-रात करता है, परन्तु वह अपने कर्म, ईश्वर को अर्पण नहीं करता। वह व्यर्थ ही 'मैं'-'मैं' करता है। अकर्त्ता होते हुए भी, वह अपने को सव कर्मों का कर्त्ता मान लेता है। वहुत बड़ी है उसकी 'मैं'। जो कुछ वह करता है 'मैं' को ही अर्पण करता है। भगवान् कहते हैं, कर्म करना तो ठीक, सिर्फ़ इसे ईश्वर को अर्पण करने की ज़रूरत है।

कर्त्तापन का अहंकार नहीं

यह विश्व परमेश्वर का महानाटक है, जिसका उद्देश्य है साधुओं का परित्राण, सत्य की अजेयता की उद्‌घोषणा तथा धर्म का संस्थापन। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह विविध पात्रों की सृष्टि करता है; शक्ति वही देता है, प्रेरणा वही देता है। सवके हृदयों में स्थित होकर यंत्र के समान उन्हें वही नचाता है। पात्र की अपनी क्या स्वतन्त्रता ? वह तो परमेश्वर की इच्छा व खेल को पूर्ण करने का निमित्तमात्र है। संत तुकाराम ने ठीक कहा है :—

"यह प्राणी निमित्त होने के लिए ही स्वतन्त्र है। मेरा-मेरा कहकर वह व्यर्थ ही अपना नाश कर लेता है।"

परमेश्वर अवसर देता है। प्राणी उसके उद्देश्य की पूर्ति का निमित्त बनता है या नहीं, यह उसकी अपनी स्वतन्त्रता है। यदि वह पीछे हटता है, अथवा अहंकारवश सुनता नहीं, तो अवज्ञा का अपयश, व्यर्थ ही अपने सिर ले लेता है। खेल तो उसका रुकता नहीं। वह किसी दूसरे पात्र को पार्ट दे देता है। उसे वह अर्जुन के समान पूर्ण करके विजय का सौभाग्य प्राप्त कर जाता है।

ऐसी स्थिति में कर्म मेरा है, कर्म का कर्त्ता 'मैं' हूँ, यह मिथ्या अभिमान है। इसके विपरीत यह समझना कि सब खेल उसी का है, उसके मन में जो कुछ करना है, उसके लिए मुझे निमित्त बनाकर, मुझसे वही विविध कर्म करा रहा है, 'ईश्वरार्पण कर्म' है। दूसरे शब्दों में कर्त्तव्य के अहंकार से सर्वथा शून्य होकर कर्म करने का नाम 'ईश्वरार्पण कर्म' है।

कर्मफल का भी अर्पण

सिर्फ़ कर्म ही नहीं; कर्म का सार तो उसका फल है; यह फल भी परमेश्वर को अर्पण करना है। गीता के दूसरे तथा तीसरे अध्याय में 'कर्म-फल-त्याग' की चर्चा विस्तार से की गई है। 'कर्म-फल-त्याग' गीता का महत्त्वपूर्ण सूत्र अवश्य है, परन्तु यह अस्पष्ट और अपूर्ण है। त्याग का शब्दार्थ छोड़ना या अस्वीकार करना है; परन्तु फिर भी त्याग से निश्चितरूप से क्या अभिप्रेत है, यह सूत्र से स्पष्ट नहीं है। फिर फल का त्याग किसके लिए किया जाय, यह भी 'कर्म-फल-त्याग' इस सूत्र से स्पष्ट नहीं होता।

कल्पना कीजिए, एक किसान ने अनाज बोया। उसके परिश्रम और सौभाग्य से, बहुत-सा धान्यरूप फल उत्पन्न हुआ। उस फल को त्यागने का अर्थ तो यह भी हो सकता है कि किसान अपने खेत से धान्य को लावे ही नहीं। यदि ले ही आया है, तो उसमें

आग लगाकर भस्म कर दे, या गंगा मैया की भेंट चढ़ा दे। अर्थात् फल को फेंक देना या नष्ट कर देना भी त्याग ही है। किसान पात्र-अपात्र का विचार किये बिना, खाते-पीते लोगों में भी अपने धान्य को बाँट सकता है। यह भी त्याग ही हुआ। पात्र-कुपात्र का लम्बा-चौड़ा विचार कर, वह भूखों-नंगों को भी अपना धान्य दे सकता है। यह भी त्याग है। इस प्रकार धान्य का त्याग अनेक प्रकार से हो सकता है। इन सब प्रकारों में से कौन-सा त्याग अभीष्ट है, यह कैसे स्पष्ट हो? 'कर्म-फल-त्याग' इस सूत्र में यह अपूर्णता थी।

ईश्वर को, जनता-जनार्दन को

'ईश्वरार्पण कर्म' का सूत्र बताकर भगवान् ने इस सारी अपूर्णता को दूर कर दिया है। फल को न फेंकना है, न नष्ट करना है, न पात्रापात्र की खटपट में पड़ना है; कर्म का फल परमेश्वर को समर्पित करना है। सब-कुछ उसी का है, उसी को सौंप देना है। और फिर निश्चिन्तता, पूर्ण शान्ति!

फल सौंपने के लिए, परमेश्वर की लम्बी-चौड़ी शोध की आवश्यकता हो, यह सब कुछ नहीं। जनता ही तो जनार्दन है! सब प्राणियों में उसी का वास है। जितने स्त्री-पुरुष हैं, सब परमेश्वर ही की जीवित मूर्तियाँ हैं। मानव-तन धारण किये, वही सब कहीं विचर रहा है। उसी की सेवा और सहायता में अपने कर्म का फल सौंप देना है। जो हमारे द्वार पर आता है, जिसे हमारी सहायता की अत्यन्त आवश्यकता है, जो भूखा-नंगा है, उसे हम जो कुछ प्रेमपूर्वक देते हैं वह परमेश्वर को ही अर्पण होता है। New Testament की निम्न पंक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं—

For I was hungry,
and ye gave me meat,
I was thirsty,
and ye gave me drink,

Then shall the righteous answer him saying...
Lord, when saw we thee hungry, and fed thee ?
Or thirsty, and gave thee drink ?

And the king shall answer and say unto them, verily I say unto you—in as much as ye have done it unto one of the least of these my bretheren ye have done it unto me.
Matthew, 25/34—40

गीता इससे भी एक कदम आगे बढ़कर कहती है कि हमारे द्वार पर जो आता है उसे भिखारी ही क्यों समझा जाय ? उसे भगवान् ही क्यों न समझ लिया जाय ? भिखारी समझकर देने में और भगवान् समझकर देने में बहुत फ़र्क है। एक को दान-पुण्य कहिए और दूसरे को ईश्वरार्पण। जो कुछ ईश्वर को अर्पण किया जाता है वह खेत में बोये हुए बीज के समान अनन्तगुणा होकर मिलता है।

कर्त्ता का निर्वाह

प्रश्न हो सकता है कि यदि कर्त्ता अपने कर्म का फल अपने पास न रखे, तो उसका अपना निर्वाह कैसे होगा ? अपने निर्वाह के लिए, जितना कुछ, कम-से-कम आवश्यक है, उसे लेना ईश्वरार्पण ही है। कर्त्ता भी तो परमेश्वर का ही रूप है। उसे भूखा-नंगा रखकर परमेश्वर का अपमान थोड़े ही करना है। हाँ, जो कुछ भी वह खाए-पीए, पहने-ओढ़े, उसमें भावना ईश्वरार्पण की होनी चाहिए।

अथवा, इस सूक्ष्मता में जाने की भी क्या आवश्यकता है ? भगवान् ने स्पष्ट शब्दों में आश्वासन दिया है :—

"जो लोग अनन्यभाव से मुझे भजते हैं उनके योगक्षेम (योग=अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करना, क्षेम=प्राप्त वस्तु की संभाल रखना) का भार मैं उठाता हूँ।" (गीता ९-२२)

भगवान् ने जिसका भार उठा लिया है, उसे किस चीज़ की कमी रह सकती है ?

(३)

अबतक जोकुछ विवेचन किया गया है उसका सार निम्न है—

(क) प्रत्येक कर्म परमेश्वर की इच्छा और प्रेरणा से तथा आस-पास के सैकड़ों व्यक्तियों के सहयोग से ही सम्पन्न होता है। ऐसी अवस्था में कर्म का कर्त्ता 'मैं' हूँ, यह अहंकार मिथ्या है। कर्म करते हुए कर्त्तापन का तनिक भी अहंकार न होना, परन्तु सच्चे हृदय से अपने को परमेश्वर के हाथों साधन या निमित्तमात्र अनुभव करना 'ईश्वरार्पण कर्म' है।

(ख) कर्म से प्राप्त होनेवाला फल, एकमात्र अपने ही उपभोग के लिए न रखना, अपितु दुःखित और पीड़ित व्यक्तियों की सेवा और सहायता के लिए भी उसका उपयोग करना, 'ईश्वरार्पण कर्म' है।

कर्म और भक्ति में विरोध है ?

अव हम यह देखेंगे कि 'ईश्वरार्पण कर्म' से भक्ति और कर्म का विरोध कैसे दूर होता है? हमारा दुर्भाग्य है, हमने भक्ति और कर्म का सम्बन्ध तोड़ दिया है। जिस समय भक्ति होगी उस समय कर्म नहीं हो सकता, जिस समय कर्म होगा उस समय भक्ति नहीं हो सकती, ऐसा विरोध उत्पन्न कर लिया है। परमेश्वर को मन्दिरों में वन्द कर दिया है, वाहर क्रियाक्षेत्र में वह कहीं दिखाई पड़ता ही नहीं। मन्दिरों से वाहर तो स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी, पेड़-पौधे, वन-पर्वत, नदी-नाले आदि ही नजर आते हैं। भक्ति के लिए मन्दिरों में जाना ज़रूरी है। कर्म के लिए मन्दिरों से वाहर आना आवश्यक है, ऐसा स्पष्ट विभाजन है। इस विभाजन के कारण कर्म शुष्क और वोझरूप हो रहा है, भक्ति निर्जीव और निस्पन्द।

कर्म ही भक्ति कैसे ?

गीता ने विभाजन की इन दीवारों को गिरा दिया है।

भीतर-बाहर का भेद निराधार है। बाहर भी सब कहीं उसी की झलक है। सब प्राणियों में उसी का निवास है।

गीता जिस भक्ति का प्रतिपादन करती है, उसके लिए मन्दिर या मस्जिद कहीं जाने की ज़रूरत नहीं। जो जहाँ बैठा है, वहीं परमेश्वर का अनवरत स्मरण कर सकता है। सिर्फ़ आवश्यकता अपने प्रत्येक कर्म का सम्बन्ध परमेश्वर से जोड़ने की है। हम अपने घर में और घर से बाहर, प्रतिदिन अनेकों स्त्री-पुरुषों के सम्पर्क में आते हैं। इनके लिए ही हम अनेक प्रकार के कर्म करते हैं। दूसरे शब्दों में, हम अपने सम्पूर्ण कर्म सामान्य स्त्री-पुरुषों को अर्पण करते हैं। ज़रा-सी भावना विशाल करने की ज़रूरत है। यदि हम अपने बाल-बच्चों, माता-पिता, भाई-बहनों, पड़ोसी तथा परिजनों को, कहने का तात्पर्य यह है कि जिस-जिसके सम्पर्क में हम आते हैं, उस-उसको, परमेश्वर का ही रूप समझ लें, तो हमारे सब कर्मों का सम्बन्ध परमेश्वर से जुड़ जाता है। कर्म का सम्बन्ध इस प्रकार परमेश्वर से जोड़ देने से वह 'ईश्वरार्पण कर्म' हो जाता है। गीता की दृष्टि में ईश्वरार्पण कर्म—ईश्वर-प्रीत्यर्थ किया गया कर्म—ही सच्ची भक्ति है।

भक्तिमय कर्म का बोझ नहीं

इस प्रकार कर्म जब ईश्वर-प्रीत्यर्थ होकर भक्ति का रूप धारण कर लेता है, तो वह नीरस और बोझरूप नहीं रह जाता; रमणीय, आनन्दमय और पावन हो उठता है। बच्चे को नह-लाना-धुलाना कितना कठिन कर्म है! बच्चा न नहाने की ज़िद करता है, साबुन लगाने देता नहीं। हम कहते हैं, हम तो तुझे साफ़-सुथरा करते हैं, इसमें चीखने-चिल्लाने की क्या बात है? फिर भी वह जब चुप नहीं करता, इधर-उधर भागे फिरता है तो बड़ा क्रोध आता है; जी खीज उठता है। बच्चे बेचारे को बहुत बार, मार-पीटकर हम अपना गुस्सा उतारते हैं। बच्चे

की माँ, बच्चे को यदि परमेश्वर की ही मूर्ति समझ ले, तो सब बात ही बदल जाती है। बच्चे का स्नान अब अभिषेक हो जाता है। उसकी ज़िद अब प्यारी लगने लगती है, उसका आँगन में लेटना अब अच्छा लगता है। प्यार से उसे फुसला लेने में जी अब ऊबता नहीं। अपने हाथों मल-मलकर उसे नहलाने में बड़ा आनन्द आने लगता है।

इसी प्रकार चूल्हा-चौका करना, फूँक मार-मारकर आग सुलगाना और गर्मियों में आग के सामने बैठकर घर-भर के लिए सुबह-शाम रोटियाँ टीपना, कुछ कम मुश्किल नहीं है। गृहलक्ष्मी चिढ़ जाती होगी, जी उसका जल जाता होगा, यह सब कल्पना की जा सकती है। परन्तु गृहलक्ष्मी यदि पति को परमेश्वर मान ले और पति के माता-पिता आदि को परमपूज्य समझ ले, तो रोटी पकाना अब साधारण कर्म नहीं रह जाता है। यह एक छोटे-से यज्ञ का रूप धारण कर लेता है। अब न धुएँ से आँखें अन्धी होती हैं, न कोयलों से हाथ काले होते हैं। मन में अब यही आता है कि मन की सारी मधुरिमा रसोई में कैसे मिला दी जाय? इस भावना से तैयार किया हुआ भोजन, खाने-वाले को कितना मीठा लगता होगा और कितना तृप्त करता होगा? भावना बदल जाने के कारण गृहलक्ष्मी अब रोटी नहीं पकाती, वह तो प्रातः-सायं परमेश्वर की पूजा ही करती है। इस पूजा से ही वह तर जाती होगी, ज्ञान-ध्यान सब प्राप्त कर लेती होगी। उसे न पत्र-पुष्प चढ़ाने की ज़रूरत है, न घण्टे-घड़ियाल बजाने की। ये सब तो कृत्रिम साधन हैं।

तात्पर्य यही है कि भावना बदलते ही, अर्थात् कर्म का सम्बन्ध परमेश्वर से जुड़ते ही कर्म, 'ईश्वरार्पण कर्म' का रूप धारण कर लेता है। वह परमेश्वर का ही स्मरण बन जाता है और फिर वह न कठिन रहता है, न बोझरूप ही। भक्ति और कर्म में अब भेद ही कहाँ रह जाता है? सब वैर-विरोध छोड़कर वे एक-दूसरे के गले मिलते हैं। 'संग्राम' और 'स्मरण' एक हो रहते हैं। बड़ा

अपूर्व मिलन है ! भक्ति कर्म को शक्ति देती है । कर्म प्रेम-विभोर हो, भक्ति का वाना पहन लेता है ।

कर्मप्रधान भक्ति

गीता की भक्ति कर्म-प्रधान है। पत्र-पुष्प चढ़ाना, धूप दिखाना, घण्टे-घड़ियाल आदि बजाना कृत्रिम साधन हैं। 'भागवत पुराण' द्वारा प्रतिपादित 'श्रवण, कीर्तन' आदि नवधा भक्ति, गीता को मान्य नहीं, हमारा यह अभिप्राय नहीं। परन्तु उन्हें ही सब-कुछ समझना, उन्हीं में निमग्न रहना और उनके बहाने अपने कर्म--स्वधर्म—को छोड़ देना, गीता को बिल्कुल मान्य नहीं। गीता की दृष्टि में भक्ति का अर्थ है, अपने सम्पर्क में आनेवाले सब स्त्री-पुरुषों को परमेश्वर का ही प्रकट रूप मानकर उनकी यथायोग्य सेवा-सत्कार और सहायता करना । यही 'ईश्वरार्पण कर्म' है । 'ईश्वरार्पण कर्म' का नाम ही गीता के अनुसार भक्ति है। भगवान् ने स्पष्ट कहा है :—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।।१८-४६

जिसने इस सारे जगत् को उत्पन्न किया है उसकी अपने कर्म द्वारा (केवल पुष्पों से या वाणी से नहीं) पूजा करके, मनुष्य सिद्धि प्राप्त करता है।

कर्म द्वारा परमेश्वर की पूजा होती है, यही नहीं, अपितु हमारा सम्पूर्ण दैनिक व्यवहार (संग्राम), परमेश्वर की पूजा, स्मरण या भक्ति का रूप ही धारण कर सकता है। इस प्रकार भक्ति का अर्थ विस्तृत कर, गीता ने कर्म और भक्ति का वैर-विरोध मिटा दिया है। गीता की यही अपूर्व देन या नूतन सन्देश है।

२८ फरवरी, १९५८

: १६ :

फलत्याग का फल

'जिसका पेड़ उसी का फल' इस न्याय से, यदि कर्म करने का हमारा अधिकार है, तो उसके फल पर भी हमारा अधिकार होना ही चाहिए। यह ठीक है; परन्तु गीता फल पर अधिकार छोड़ देने और अपने कर्त्तव्य-कर्मों को उत्साह से करने की सलाह देती है। इस सलाह में ही गीता-ग्रन्थ की सम्पूर्ण विशेषता है। अटपटी-सी प्रतीत होनेवाली इस सलाह का मर्म उद्घाटित करना इस लेख का उद्देश्य है।

सामान्य रूप से समझा जाता है कि फल की लालसा होने पर ही आदमी अपना कर्म खूब तत्परता, सावधानता और उत्साह से करता है। फल का लोभ न होने पर कर्म में न कोई उत्साह होता है और न एकाग्रता। वस्तुतः बात इससे बिल्कुल उलटी ही है। ज़रा मनोवैज्ञानिक ढंग से विचार करें तो, यह आसानी से स्पष्ट हो सकता है।

(क) कर्म में उत्कृष्टता

कर्म में कुशलता (Efficiency) के लिए उत्साह विशेषरूप से आवश्यक है। यह उत्साह फल की लालसा या लोभ से ही उत्पन्न होता है, ऐसी बात नहीं है। लोभ, कर्म में सोत्साह प्रवर्तित करनेवाले अनेक भावों में से एक अवश्य है। परन्तु

लोभ के सिवाय क्रोध, करुणा, प्रेम, घृणा, भय, सहानुभूति आदि अनेक भावों से भी मनुष्य विभिन्न कर्मों में सोत्साह प्रवृत्त होता है।

प्रेम, करुणा आदि से महान् कर्म

महामहिमामय कर्म, जिनका युग-युग में मूल्य और महत्त्व बढ़ता ही जाता है, के मूल में लोभ नहीं, करुणा, प्रेम, क्रोध आदि अन्य भाव ही होते हैं। भगवान् बुद्ध का महाभिनिष्क्रमण, जिसका स्मरणमात्र आँखों को सजल वना देता है, क्या किसी लोभ या स्वार्थ का परिणाम है ? भीष्म ने राजगद्दी का त्याग किया और आजन्म ब्रह्मचारी रहने की कठोर प्रतिज्ञा का पालन किया; अपने पिता शान्तनु के सुख के लिए। स्वेच्छा से अपने सुख के वलिदान का इससे वड़ा कौन-सा उदाहरण हो सकता है ?

सुकरात ने ज़हर का प्याला खुशी-खुशी मुँह से लगाया, लैटिमर जलती हुई ज्वाला में सहर्ष वैठ गया, सचाई और धर्म से ध्रुव प्रीति के कारण। महात्मा गांधी ने फ़क़ीरी पसन्द की, एक पराधीन देश को स्वतन्त्र वनाने के लिए। उनके पदचिह्नों पर चलते हुए कितने ही देशभक्तों ने, जिनका न नाम पता है न धाम, देश की वलिवेदी पर अपने प्राणों की आहुति दी है। जौहर-व्रत करनेवाली राजपूत-रमणियों से पूछो! पति के बाद ज्वाला में सहर्ष कूद जानेवाली सहस्रों सती-साध्वियों से पूछो कि उनकी उमंग का स्रोत क्या है, उनके उत्साह का रहस्य क्या है ?

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि धर्म और वीरता के उदात्त कर्मों के पीछे स्वार्थ और लोभ का लेशमात्र भी हाथ होता है, यह कहना मुश्किल ही है। मानव-देह धर्म के इन्हीं यशस्वी कर्मों के लिए है। महिमामय कर्मों से, धरती पर मंगलवृष्टि होती है, और स्वर्ग का साम्राज्य स्थापित होता है।

लोक-कल्याण की भावना से

काव्य और कला के क्षेत्र में भी संसार की सर्वश्रेष्ठ कृतियाँ, फल के किसी लोभ से जन्मी हैं, यह कहा नहीं जा सकता। महर्षि व्यास, वाल्मीकि, गोस्वामी तुलसीदास तथा भक्तप्रवर सूरदास की महान् कृतियों के पीछे धर्म की प्रेरणा और लोक-कल्याण की भावना है। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' की रचना के पश्चात् महाकवि कालिदास ने यही आत्म-सन्तोष अनुभव किया है कि अक्षय आनन्द का मंगलमय स्रोत पृथिवी पर प्रवाहित कर और मानवता का स्वर मुखरित कर, वे मोक्ष के अधिकारी हो सके हैं।

फल के लेशमात्र भी लोभ के विना, कैसे महान् और उज्ज्वल कर्मों की सृष्टि, सम्पूर्ण उत्साह से हो सकती है, यह उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है।

लोभ से निष्फलता

इसके विपरीत फल की लालसा से, कर्म का सब कौशल क्षण-भर में कैसे लोप हो जाता है, यह नीचे के विवेचन से समझा जा सकता है।

शल्यक्रिया में पूर्ण दक्ष एक डॉक्टर के हाथ-पाँव, अपने पुत्र के शरीर पर ऑपरेशन करते समय, काँपने लगते हैं। अपने पुत्र के ऑपरेशन के लिए, उसे अपने से निश्चित रूप से कम दक्ष डॉक्टर की सहायता भी आशीर्वाद-रूप सिद्ध होती है। इसी प्रकार एक उत्तम शिक्षक, जिसकी शिक्षण-पद्धति की हज़ारों शिष्य मुक्तकंठ से प्रशंसा करते हैं, अपने पुत्र या प्रिया को पढ़ाने में क्यों एकदम निष्फल सिद्ध होता है? फल का लोभ या अत्यधिक आग्रह ही उपर्युक्त निष्फलता का कारण है।

क्रिकेट के बहुत-से अभ्यस्त खिलाड़ी टैस्ट मैच में ९०, ९५, रन तो आसानी से बना लेते हैं, परन्तु ९५ से १०० के बीच में, अभ्यस्त खिलाड़ियों के भी हाथ-पाँव फूलने लगते हैं। उनकी

सारी एकाग्रता और आत्मविश्वास जाने कहाँ उड़ जाते हैं! परिणामस्वरूप वे इन ५ रनों को बनाने से पहले ही आउट हो जाते हैं। ठीक ९९ रन पर कितने खिलाड़ी टैस्ट मैचों में आउट हुए हैं, यह पता लगाना बहुत ही रसप्रद है। ऐसे खिलाड़ियों की एक लम्बी शृङ्खला है। कभी-कभी संसार के दिग्गज खिलाड़ी भी क्रिकेट टैस्ट मैच में अपने ९९ रन पूरे करके आउट होते हैं, जिससे बहुधा क्रिकेट-रसिकों में हृदयद्रावक निराशा फैल जाती है। ९६ रन तक तो वे खूब जमकर खेलते हैं। आउट होने का एक भी अवसर (Chance) नहीं देते। दर्शक मुग्ध हो जाते हैं। परन्तु ९६ रन के पश्चात् उनके पैर उखड़ने लगते हैं। कैच छूट जाने से आउट होते-होते बचते हैं। परन्तु ९९ पर जाकर आउट हो ही जाते हैं। १०० रन (Century) करने का लोभ और दुनिया के प्रसिद्ध खिलाड़ियों में अपना नाम सदा के लिए लिखा जाने की अत्यधिक लालसा, खूब जमे हुए खिलाड़ियों के भी पैर कैसे उखाड़ देती है!

अन्वय-व्यतिरेक से, इस प्रकार यही निष्कर्ष निकलता है कि फल-त्यागपूर्वक कर्म करने से ही, कर्म में श्रेष्ठता और उत्कृष्टता (Efficiency) आती है। फलत्याग की यह सिद्धि लौकिक दृष्टि से कितनी अमूल्य है, यह समझा जा सकता है।

इस प्रसंग में आचार्य श्री विनोबा द्वारा लिखी लक्ष्मी की कथा ध्यान देने योग्य है—

"लक्ष्मी का स्वयंवर था। सारे देव-दानव बड़ी आशा बाँधकर उपस्थित हुए। लक्ष्मी ने अपना प्रण प्रकट नहीं किया था। सभा-मंडप में आकर वह बोली—'मैं उसी के गले में वरमाला डालूँगी जिसे मेरी चाह न होगी।' अब वे सब तो थे लालची। लक्ष्मी ऐसा निःस्पृह वर खोजने लगी। इतने में, शेषनाग पर शान्त भाव से लेटे हुए भगवान् विष्णु पर उसकी नज़र पड़ी। उनके गले में वरमाला डालकर वह आज तक उनके पैर दबाती हुई बैठी है।"

'जो न चाहे उसकी, होती रमा दासी।'

(ख) चित्त-शुद्धि

भगवान् कृष्ण कहते हैं :—

"योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये।" ५-११

फलत्यागपूर्वक कर्म करते हुए महान् फल जो योगियों को प्राप्त होता है वह 'चित्तशुद्धि' है। चित्तशुद्धि ही मोक्ष है या मोक्षद्वार है। मानव-जीवन का यही परम पुरुषार्थ है।

इसके विपरीत, फल के लोभ से कर्म करने से, छोटा-मोटा सांसारिक फल तो अवश्य मिलता है, परन्तु लोभ अपने साथ ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, मद, मत्सर इत्यादि की विशाल सेना ले आता है, जिससे चित्त मलिन होता है और बुद्धि अस्थिर। चित्त की निर्मलता वेचकर जो कुछ फल खरीदा गया है, वह नितान्त निर्माल्य ही है। सुख और शान्ति का यह मार्ग नहीं है।

(ग) सिद्धि-असिद्धि में समता

फलत्यागपूर्वक कर्म से ही सिद्धि-असिद्धि में समता रह सकती है। प्रत्येक कार्य में सिद्धि मिलना आवश्यक नहीं है। विजय के साथ पराजय भी लगी ही है। ऐसी अवस्था में, पूर्ण श्रद्धा और विश्वास के साथ प्रभु के हाथों में जो फल छोड़ सकता है, वही श्रेयार्थी निश्चिन्त रह सकता है। असफलता में, सामान्य जन जहाँ निराश और हतोत्साह होते हैं, वहाँ फलत्यागी प्रभु की इच्छा समझ सन्तुष्ट रहता है।

स्वार्थी अपनी संकुचित दृष्टि के कारण, बहुत बार यह देख ही नहीं पाता कि असफलता भी, हमारे योग्य विकास के लिए अनिवार्य ही होती है। वह व्यर्थ ही उद्विग्न और व्याकुल होता है। यह सब देखने के लिए निर्मल दृष्टि चाहिए। सामान्य जन भी, कभी-कभी जीवन में समय वीतते, यह अनुभव करता है कि जिसे वह असफलता समझता था, उसमें तो परमेश्वर की कृपा

ही छिपी थी। योगी (फलत्यागी) श्रद्धा की आँखों से इस सब रहस्य को यथासमय दृष्टिगोचर करता है। इसलिए 'संतुष्टः सततं योगी' वह हार में, जीत में, सब अवस्थाओं में सन्तुष्ट रहता है।

(घ) शान्ति

फल-त्याग करनेवाला परम शान्ति अनुभव करता है :—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ गीता ५-१२

जब तक लोभ है तब तक क्षोभ अनिवार्य है। श्रेयार्थी फल की लालसा छोड़कर सब चिन्ताओं से मुक्त हो जाता है। इस लालसा-परित्याग से उसका न किसी से विरोध रहता है न वैर। वैर-विरोध गये तो फिर व्यग्रता और व्याकुलता भी चली जाती है। फलत्यागी सब ओर देवों के दर्शन करता है, उनकी आँखों में झलकती प्रीति और मैत्री से उसकी आत्मा तृप्त हो रहती है।

फल से जितना ही चिपटो, उतनी अधिक चिन्ता! लोभ के साथ क्रोध, भय, आशंका आदि सब दुर्भावनाएँ हृदय में डेरा जमा लेती हैं। इन दुर्भावनाओं से सारी दुनिया दुश्मन दिखाई देती है। स्नेह और सद्भाव का कहीं नाम नहीं। सब कहीं भय उत्पन्न करती दानवों की काली छायाएँ !!

फल छोड़ने से देवों की प्रसन्नता, प्रभु की प्रीति और चित्त की अतुल शान्ति मिलती हो, तो फिर मनुष्य को क्यों ज़रा भी हिचकिचाना चाहिए? शान्ति से बढ़कर अमूल्य वस्तु दुनिया में क्या है? वस्तुतः श्रद्धा चाहिए। श्रद्धा ही धर्म की प्रथम सीढ़ी है। शान्ति धर्म के शिखर पर विराजती है। इसीलिए भगवान् ने सुनहली सलाह दी है :—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।—गीता २-४७

२० फरवरी, १९६१

: २० :

स्वार्थ-परार्थ

परोपकाराय सतां विभूतयः।

Show me the man who would go to heaven alone, and I will show you one who will never be admitted there.

—Feltham

मुसलमान बेईमान, हिन्दू काफ़िर, सुनार माँ के गहने का भी चोर, 'नराणां नापितो धूर्तः', 'स्त्रीषु विश्वासो न कर्त्तव्यः', इस प्रकार की कहावतों से, मनुष्य-मनुष्य के बीच कितना विद्वेष और अविश्वास बढ़ा है, कल्पना करना मुश्किल है। ठीक इसी प्रकार, मनुष्य जन्म से ही स्वार्थी प्राणी है, परोपकार मनुष्य का नैसर्गिक (Natural) गुण नहीं है, इस प्रकार की अविचार-पूर्ण उक्तियों से भी मानव-जाति की कितनी हानि हुई, कितना भ्रम फैला तथा नैतिक वृत्ति कितनी क्षत-विक्षत हुई, कौन बता सकेगा ?

(१)

परार्थ भी सहज है

मनुष्य में स्वार्थ नहीं है, यह कोई नहीं कहता। स्वार्थ ज़बरदस्त है, परन्तु परार्थ भी उतना ही स्वाभाविक और प्रबल है। बहुत-सी परिस्थितियों में वह स्वार्थ को पराजित भी करता है। माँ अपने कुटुम्ब के लिए क्या नहीं करती ? रोटी का यदि

एक ही टुकड़ा हो, तो वह स्वयं भूखी रहकर बच्चे को खिलायेगी। स्वयं गीले बिस्तर पर लेटेगी, बच्चे को सूखे स्थान पर सुलायेगी। "माँ-बच्चे का सम्बन्ध ऐसा कोई लोक-विलक्षण या अलौकिक नहीं कि इसका दृष्टान्त अन्यत्र न दिया जा सके। माँ और बालक के बीच ममता का जो प्रेम-सम्बन्ध है, लगभग वैसा ही सम्बन्ध समाज के विभिन्न व्यक्तियों के बीच होना चाहिए। समाज के सम्मुख, यह आदर्श प्रस्तुत करना न अयोग्य है, न अव्यावहारिक।"

—काका कालेलकर

व्यास का विचार

इस स्थल पर महाभारतकार द्वारा लिखी हुई 'सोने के नेवले' की कथा स्मरण करने योग्य है। एक ग़रीब ब्राह्मण-परिवार (पति-पत्नी और दो बालक) के प्रत्येक सदस्य ने अपने हिस्से के सत्तू, भूख से पीड़ित एक अतिथि को खिलाने के लिए दे दिये। अतिथि का पेट तो भर गया, परन्तु सम्पूर्ण ब्राह्मण-परिवार के भूख से प्राण जाते रहे। स्वार्थ-त्याग का अद्भुत किस्सा है! महर्षि व्यास ने इस कथा द्वारा, मानव-स्वभाव की एक हक़ीक़त का ही बयान किया है। कहना होगा परार्थ, मानव-स्वभाव का उतना ही अंग है जितना स्वार्थ।

इतिहास भी तो स्वार्थ-त्याग की कथाओं से भरपूर है। भीष्म ने राजगद्दी का परित्याग किया और यावज्जीवन ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करने का प्रण किया। पिता के सुख-सन्तोष के लिए, स्व-सुख का यह ऐसा महान् बलिदान है, जिसे स्मरण कर सहृदय की आँखें सदा अश्रुभीनी होती रहेंगी। धर्म की रक्षा के लिए, गुरु तेग बहादुर ने जो कष्ट सहे, उनकी याद से हर किसी के रोंगटे खड़े हो जाते हैं। सुकरात ने, जेल से भाग चलने की समस्त सुविधा होते हुए भी, राज्य के नियमों और कानूनों की अवहेलना न हो इस विचार से शांत और स्थिर रहते हुए ज़हर

का प्याला पीना पसन्द किया। कैसा अजीब बलिदान है? महर्षि दयानन्द ने ज़हर देनेवाले को, अपने पास से रुपये दिये और उसे कहीं दूर भाग जाने और सिर छिपाने की सलाह दी। परार्थ कितना ज़बरदस्त हो सकता है! लैटिमर, गैलिलियो, कोपरनिकस आदि कितने ही वैज्ञानिक, सचाई और सिद्धान्त की खातिर प्राणों तक की आहुति क्या नहीं दे गए?

'सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव।'

दुर्योधन का उपर्युक्त वचन यदि दुनिया के स्वार्थ की सीमा सूचित करता है, तो अर्जुन की निम्न उक्ति—

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते॥ गीता १-३५

स्वार्थ की सीमा पर क्या भयंकर कुठाराघात नहीं करती? अर्जुन कौरवों की हत्या कर सकता है और राजगद्दी प्राप्त कर सकता है, परन्तु फिर भी वह स्वयं मृत्यु का स्वागत करने को उद्यत है।

पश्चिमी विद्वानों के विचार

'मनुष्य की परार्थ-सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ, ऊपरी दृष्टि से ही स्वार्थ-मुक्त प्रतीत होती हैं। वस्तुतः जो कुछ परार्थ है, वह स्वार्थ सिद्ध करने का ही एक कुशल साधन होता है।' मनोवैज्ञानिक सुखवाद के समर्थक अंग्रेज़ ग्रन्थकार हॉब्स और फ्रेंच लेखक हेल्देशियस का उपर्युक्त विचार कितना हास्यास्पद है, यह ऊपर उद्धृत उदाहरणों से स्पष्ट होगा। परार्थ के लिए व्यक्ति ने जब प्राण ही होम दिये, तो सुख भोगेगा कौन? स्वार्थ सिद्ध हुआ किसका?

बटलर सरीखे विद्वानों ने हॉब्स के उपर्युक्त नीतिधर्म का खंडन करके यह सिद्ध किया है कि मनुष्य-स्वभाव केवल स्वार्थी नहीं है। स्वार्थ के समान ही उसमें जन्म से ही भूत-दया, प्रेम, कृतज्ञता आदि सद्गुण भी कुछ अंश में रहते हैं।

उपयोगितावाद (Utilitarianism) के समर्थक मिल (Mill) ने, अधिकतम मनुष्यों का अधिकतम सुख (greatest happiness of the greatest number) के सिद्धान्त की उपपत्ति के लिए, मानव-स्वभाव में स्वार्थ के साथ ही सहानुभूति की भावना (The feeling of happiness of mankind) का अस्तित्व स्वीकार किया है। दूसरों के सुख-दुःख के प्रति सहानुभूति अनुभव करने का आन्तरिक गुण होने से, मनुष्य अपने मूल स्वार्थी स्वभाव को दबा सकता है और परार्थी बन सकता है। मिल की मान्यता है कि सहानुभूति-भावना का उद्‌भव यद्यपि स्वार्थ-प्रवृत्ति में से हुआ है, परन्तु अब यह भावना स्वार्थ जितनी ही स्वाभाविक (natural) हो गई है। इस प्रकार मिल ने स्वार्थ और सहानुभूति दोनों को मनुष्य की स्वाभाविक वृत्तियाँ स्वीकार कर स्वार्थ और परार्थ—सुखवाद और परोपकार—में मेल बैठाने का प्रयत्न किया है।

उत्क्रांतिमूलक सुखवाद (Evolutionery Hedonism) के समर्थक हरबर्ट स्पेंसर की मान्यता है कि मनुष्य की नैतिक चेतना में, स्वार्थ की अपेक्षा सहानुभूति को ही अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त होती है।

पूर्णतावादी या आत्म-कल्याणवादी (Perfectionist) ग्रीन के मतानुसार आत्मा, निम्न आत्मा (Lower Self) और उच्च आत्मा (Higher Self) की बनी है—निम्न आत्मा अर्थात् अशुभ वृत्तियाँ, विकार-वासनाएँ तथा तमाम स्वार्थयुक्त और नीची कक्षा की भावनाएँ; उच्च आत्मा अर्थात् शुभ वृत्तियाँ, उच्च इच्छाएँ, सद्‌भावनाएँ तथा वासनाओं को व्यवस्थित करनेवाली बुद्धि-शक्ति। मनुष्य वासनाओं (अशुभ व स्वार्थी इच्छाओं) का गुलाम नहीं है। बुद्धि द्वारा वासनाओं में व्यवस्थितता लाते हुए, वह आत्म-कल्याण सिद्ध करने में समर्थ है। निम्न श्लोक में ग्रीन के उपर्युक्त मत का ही प्रतिपादन है :—

आहारनिद्राभयमैथुनं च
सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।

धर्मो हि तेषामधिको विशेषः
धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥

मनुष्य में आहार, निद्रा, भय आदि की इच्छाएँ व वासनाएँ पशु-सदृश ही हैं, परन्तु साथ ही उसमें धर्म की विशेषता भी है। बौद्धिक तत्त्व द्वारा, अशुभ वासनाओं को नियंत्रित और शुभ-वासनाओं को विकसित करते हुए, श्रेय (आत्मकल्याण) की ओर बढ़ने का नाम ही धर्म है। जिसमें यह धर्म नहीं अर्थात् जो वासनाओं का गुलाम है, रात-दिन जो स्वार्थवृत्ति में संलग्न है, जिसमें कर्त्तव्य-भावना व धर्म-बुद्धि जागृत ही नहीं हुई, उसे मनुष्य नहीं, पशु ही कहना चाहिए।

शतपथ ब्राह्मण ने कहा है कि 'असुर वे हैं जो पक्के स्वार्थी हैं और देव वे हैं जो नितांत परार्थसेवी हैं।' मनुष्य में स्वार्थ-परार्थ दोनों का सम्मिश्रण है। देवासुर का संग्राम उसकी हृदयस्थली में जारी रहता है। कभी विजय देवों की होती है और कभी असुरों की।

(२)

गीता की दृष्टि

भगवान् कृष्ण ने परार्थवृत्ति (Altruism) को मनुष्य का सहज (Natural) धर्म कहा है :—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥ गीता ३-१०

यज्ञधर्म (परार्थवृत्ति) के साथ प्रजा को उत्पन्न करके ब्रह्मा ने कहा—इस यज्ञ द्वारा तुम खूब फूलो-फलो। यह परार्थवृत्ति (यज्ञ) तुम्हारी कामधेनु (मनचाहा फल देनेवाली) होवे।

उपर्युक्त शब्दों से स्पष्ट है कि परार्थवृत्ति मनुष्य का उसी प्रकार स्वभावसिद्ध धर्म है, जिस प्रकार उष्णता अग्नि का। अग्नि में उष्णता न रहे, तो उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। ठीक इसी प्रकार मनुष्य में यदि परार्थवृत्ति न हो, तो उसका

मनुष्यत्व ही खतरे में पड़ जाता है। परन्तु फिर भी उसे न जाने कैसी कुशिक्षा मिली है, जीवन-कलह (Struggle for existence) का मन्त्र उसके कान में इस ज़ोर से फूँक दिया गया है कि वह यही समझने लगा है कि स्वार्थ ही स्वाभाविक वृत्ति है, परार्थ-वृत्ति केवल अपवाद रूप है। गीता बलपूर्वक कहती है कि ऐसा बिल्कुल नहीं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति

सब प्राणियों के हृदय में ईश्वर विराजमान है। यह ईश्वर कौन ? प्रेम, परोपकार, दया, करुणा, सत्य, अहिंसा आदि सद्-गुणों की पराकाष्ठा का नाम ही तो ईश्वर है। यदि यह सच है तो मानना ही होगा कि परार्थवृत्ति घटित करनेवाली भूत-दया, प्रेम, करुणा, कृतज्ञता आदि वृत्तियाँ, मनुष्य के स्वभाव की अंग-रूप ही हैं। यह ठीक ही है कि पुरुष में पशुत्व जब-तब ज़ोर करता है, परन्तु हृदयस्थित देव उसका दमन करने के लिए पर्याप्त समर्थ है। संकल्प के सुदर्शन-चक्र से समस्त असुरों का संहार संभव है।

सतोगुण भी प्रकृति का अंग है

गीता के १६वें अध्याय में दैवी और आसुरी प्रकृति की चर्चा है। निर्भयता, सत्य, अहिंसा, तप, त्याग, दान, दया, क्षमा, अक्रोध, सरलता, कोमलता, समता, निरभिमानता आदि सद्गुण-समुदाय को दैवी सम्पत्ति या धर्मवृत्ति कहा है। अभिमान, क्रोध, दंभ, कठोरता और अज्ञान आदि दुर्गुण-समुदाय आसुरी सम्पत्ति या अधर्मवृत्ति है। शुभाशुभ वासनाएँ, धर्मवृत्ति और अधर्मवृत्ति की बीजरूप हैं। इन वासनाओं के वश न होकर बुद्धिशक्ति की सहायता से उन्हें व्यवस्थित करने से, तथा योग्य दिशा में उनका विकास करने से धर्मवृत्ति का विकास होता है। यदि सुशिक्षण आदि द्वारा बुद्धि सुसंस्कृत न की गई हो, प्राधान्य वासनाओं का हो, बुद्धि योग्य दिशा दिखाने की अपेक्षा, वासनाओं की सेवा-

संतुष्टि का साधनमात्र बन जाय, तो अधर्मवृत्ति का विकास होता है। स्पष्ट है कि धर्मवृत्ति या अधर्मवृत्ति का विकास करना मनुष्य के अपने हाथ में है। मनुष्य के कानों में बार-बार यह डालने से कि वह स्वार्थी प्राणी है, लाभ क्या है? ज़रूरत तो वस्तुतः उसकी बुद्धि को सुशिक्षण तथा सत्संगति द्वारा सुसंस्कृत करने की है।

अर्जुन के स्वभाव में अभिमान, क्रोध, कठोरता आदि सब-कुछ था, परन्तु फिर भी उसे आश्वासन मिला है :—

मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पांडव। गीता १६-५

वस्तुतः असत् से सत् की ओर, अधर्म से धर्म की ओर उत्तरोत्तर उन्नति करने के लिए जो सचेष्ट है, वह दैवी प्रकृति का पुरुष है। यही क्यों, सत्पुरुषों की श्रद्धा है कि कोई मनुष्य, राजस तथा तामस भावों में कितना ही क्यों न डूबा हो, उसमें, विशेष सुयोग होने पर, सत्त्वगुण के उदय होने की शक्यता रहती है; क्योंकि बीजरूप से सत्त्वगुण उसके अन्तर में निहित है :—

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा॥ गीता १४.१०

सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण विभिन्न अंशों में, प्रत्येक मनुष्य में निहित है। ऐसा नहीं कि किसी मनुष्य में, कोई एक गुण सर्वथा हो ही नहीं। तीनों गुणों में से जिस गुण की प्रधानता रहती हो, उसी के अनुसार मनुष्य की प्रकृति को सात्त्विक, राजस या तामस कहा जाता है। सात्त्विक प्रकृति में, रजोगुण और तमोगुण; राजस प्रकृति में तमोगुण और सतोगुण; तामस प्रकृति में सतोगुण और रजोगुण अप्रधान या दबी अवस्था में रहते ही हैं।

सतोगुण ज्ञान (जागृति, प्रकाश, आरोग्य) का प्रतिनिधि है; रजोगुण कर्म (प्रवृत्ति, लोभ, अशान्ति) का तथा तमोगुण, मोह (प्रमाद, सुस्ती, अज्ञान) का। यदि यह सब सच है, तो मानना होगा कि मनुष्य-प्रकृति में, जिस हद तक स्वार्थ नैसर्गिक है, उसी

हद तक परार्थ भी। इसीलिए कहा है :—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।

साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः ।। गीता ९.३०

मनुष्य कितना ही दुराचारी क्यों न हो, यदि वह अनन्य निष्ठा से ईश्वर की भक्ति करने लगे, तो सदाचारी बन ही सकता है। संकल्प शुभ हो जाय, तो व्यक्ति के साधु या धर्मात्मा बनने में देर नहीं लगती। कहना यह है कि गीता की दृष्टि में हर कोई व्यक्ति धर्मात्मा या अधर्मात्मा हो सकता है। गीता का तत्त्व-चिन्तन, इस प्रकार, नैतिक वृत्ति को अत्यधिक प्रोत्साहित व प्रफुल्लित करता है।

महात्माजी का विश्वास

इस सम्बन्ध में महात्माजी की विचार-सरणी अतिशय प्रेरणा-प्रद है :—

"भले ही मनुष्य अपूर्ण हो, परन्तु पूर्णता का सतत प्रयत्न करना उसके स्वभाव में है।"

"पृथिवी और स्वर्ग, (स्वार्थ और परार्थ) सब हमारे भीतर ही हैं। अपने भीतर की पृथिवी को हम जानते हैं, पर अपने भीतर के स्वर्ग से हम अपरिचित हैं।"

"अगर यह मान लिया जाता है कि कुछ लोगों के लिए प्रेम-धर्म (परार्थ) का पालन संभव है, तो यह न मानना धृष्टता है कि और सब लोगों के लिए इसका पालन करना संभव नहीं है।"

मनुष्य कितना ऊँचा उठ सकता है इस सम्बन्ध में वे कहते हैं :—

"मेरा यह विश्वास ज़रूर है कि प्रत्येक मनुष्य के लिए ईश्वर के बराबर ही पूर्ण हो जाना संभव है। हम सबके लिए पूर्णता की आकांक्षा रखना ज़रूरी है।"

जीवन-कला के सच्चे अभ्यासी का संगीत कितनी सुनहली आशा जगाता है!

भर्तृहरि का अनुभव

'मनुष्य स्वार्थ का पुतला है' यह एकदम झूठ है। भर्तृहरि के शब्दों में सत्पुरुषों का तो कहना ही क्या, साधारण मनुष्यों में भी स्वार्थ-परार्थ का यथायोग्य मेल रहता है :—

एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थान् परित्यज्य ये
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाऽविरोधेन ये।
तेऽमी मानवराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये
ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे॥

संसार में चार प्रकार के मनुष्य हैं :—

(**क**) **सत्पुरुष**—अपना स्वार्थ (स्वसुख) छोड़कर जो दूसरों का हित करते हैं, वे सत्पुरुष हैं।

(**ख**) **सामान्य जन**—स्वार्थ को खतरे में डाले विना, जो यथाशक्ति परोपकार करते रहते हैं, वे सामान्य लोग कहाते हैं।

(**ग**) **मनुष्य राक्षस**—अपने स्वार्थ के लिए जो दूसरों का हित कुचलते हैं, वे नीच मनुष्य मनुष्याकृति राक्षस हैं।

(**घ**) **अधम पशु**—जो विना कारण ही दूसरों को नुकसान पहुँचाते हैं वे अधम पशु हैं।

इस प्रकार भर्तृहरि, 'मनुष्य केवल स्वार्थी प्राणी है' इस सिद्धान्त के विरोधी हैं। सामान्य मनुष्य स्वार्थ का अनुसरण करता है, परन्तु परार्थ की भी चेष्टा करता ही है। जिनकी दृष्टि केवल स्वार्थ पर ही है—अपने लाभ के लिए जो परहित को कुचलते हैं, वे तो मानव की भूमि से अभी नीचे ही स्थित हैं। मनुष्य तो वही है जिसमें स्वार्थ और परार्थ दोनों का उचित मेल है।

सन्तों की जीवन-पद्धति

भर्तृहरि के शब्दों में, सन्तों के जीवन में परार्थ की प्रभुता रहती है :—

पद्माकरं दिनकरो विकचीकरोति
चन्द्रो विकासयति कैरवचक्रवालम्।

नाभ्यर्थितो जलधरोऽपि जलं ददाति
सन्तः स्वयं परहितेषु कृताभियोगाः ॥

सन्तों की स्तुति कालिदास के शब्दों में :—

स्वार्थात् सतां गुरुतरा प्रणविक्रियैव ।

साधु पुरुष स्वार्थ की अपेक्षा ग़रज़मन्द की ग़रज़ सारना अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं । और भी—

आपन्नार्तिप्रशमफलाः संपदो ह्युत्तमानाम् ।

विपत्ति-पीड़ितों के दुःख निवारण करके, साधु पुरुष अपनी सम्पत्ति सफल समझते हैं ।

राजर्षि दुष्यंत के चरित्र की स्तुति में कालिदास ने लिखा है :—

स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः
प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवंविधैव ।
अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपः तीव्रमुष्णं
शमयति परितापं छायया संश्रितानाम् ॥

जैसे पेड़ स्वयं पीड़ा उठाकर दूसरों की पीड़ा शमन करते हैं, वैसे ही श्रेष्ठ पुरुष स्वयं कष्ट सहकर दूसरों के कष्ट दूर करते हैं । भलाई करना सज्जनों का स्वभाव है ।

सन्त अपनी जीवनपद्धति द्वारा यही दिखाते हैं कि नरदेह पाकर मनुष्य कितना ऊँचा उठ सकता है। वह न क्षुद्र है, न स्वार्थ का कीड़ा । बुद्धि और हृदय की अपार शक्ति से वह परिपूर्ण है। यदि वह कल्पना के पंख तोड़ न डाले और अपनी भावनाओं को सिकोड़ न ले, तो वह नर से नारायण बन सकता है। फिर भी, जो अपने को धरती पर रेंगते रहनेवाला बदक़िस्मत जीव माने हुए है, जो हिम्मत हारे हुए है, ऊँचे उड़कर सूर्य तक पहुँचने की जिसमें उमंग नहीं, वह तो स्वयं अपना शत्रु ही है—

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धरात्मैव रिपुरात्मनः ।—गीता ६-५

२४ अप्रैल, १९६४

: २१ :

स्वार्थ पर लगाम

'To restrain our selfish, and exercise our benevolent affections, constitutes the perfection of human nature.'

—Adam Smith

तर्कशास्त्र के प्रखर पंडित कभी-कभी कैसी सरासर ग़लत दलीलबाज़ी कर जाते हैं, यह मिल (Mill) की निम्न दलील में देखने को मिलता है :—

"अमुक वस्तु दृश्यमान् है, इसका एकमात्र प्रमाण यही हो सकता है कि लोग उस पदार्थ को देखते हैं। अमुक आवाज़ श्रव्य है, इसका एकमात्र प्रमाण यही है कि लोग उस आवाज़ को सुनते हैं। इसी प्रकार, मुझे ऐसा प्रतीत होता है, अमुक वस्तु इच्छनीय है, इस हक़ीक़त का, यदि कोई प्रमाण दिया जा सकता है, तो यही कि लोग उस वस्तु की इच्छा करते हैं।"

मिल के कथनानुसार लोग सुख (Pleasure) की इच्छा करते हैं, यह मनोवैज्ञानिक तथ्य, सुख इच्छनीय है, यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। इष्ट या अनिष्ट (good or bad) की यदि यही कसौटी हो, तो क्रोध करना या पराया धन-हरण करना भी इच्छनीय (इष्ट) होगा, क्योंकि क्रोध और परधन-हरण, बहुत-से लोग करते हैं। इस प्रकार के तर्क से तो खरे-खोटे की कसौटी ही खटाई में पड़ जाती है। स्वभाव का जो अंग है, वह सब ही इष्ट या शुभ (good) ठहर जायगा।

स्वार्थ इष्ट (good) **नहीं**

मानव-स्वभाव में जो कुछ है, वह सब इष्ट या उपादेय कैसे कहा जा सकता है ? पशुत्व और देवत्व दोनों के बीज मानव-स्वभाव में निहित हैं। इनमें से देवत्व का संवर्धन तथा पशुत्व का परित्याग, यही मनुष्य का परम पुरुषार्थ है :—

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम् ।
सुपर्णयातुं उत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र ।।

अथर्व० ८-४-२२

उल्लू के समान आचरण (मोह) को, भेड़िये के चलन (क्रोध) को, कुत्ते जैसे व्यवहार (मत्सर) को, और कोक चिड़िया के आचरण (काम) को छोड़ दे। बाज़ की चाल (मद) को तथा गीध जैसे वर्तन (लोभ) को भी छोड़। इन छहों में से, एक-एक राक्षस को, हे आत्मन् ! तू अपनी शक्ति द्वारा, इस तरह नष्ट कर दे जैसे शिला से मिट्टी का ढेला नष्ट हो जाता है।

वेद के उपर्युक्त मन्त्र में काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि प्रसिद्ध 'षड्-रिपुओं' की चर्चा है। इन 'षड्-रिपुओं में' काम, क्रोध, लोभ मुख्य हैं। स्वार्थ इन्हीं के रूप में प्रकट होता है। वेद के शब्दों में स्वार्थ, राक्षस-रूप है। इससे मनुष्य की न शोभा है और न वह सच्चे सुख का साधन है। इस राक्षस से, श्रेयार्थी को, अपनी सतत रक्षा करनी है।

स्वभाववश न हो

स्वार्थ स्वभावगत है, फिर भी पीछा छुड़ाने योग्य है। स्वभाव का साम्राज्य ज़बरदस्त है, यह सही है। फिर भी, 'यह तो स्व-भाव है', यह कहकर कोई खोटाई करने लगे तो यह योग्य नहीं है। इस युक्ति से तो हर किसी बुराई का समर्थन हो सकता है। वस्तुतः बुराई का डटकर सामना करने में ही मनुष्यता है। गीता की सलाह है :—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥ ३-३४

जिह्वा को मीठी वस्तु जन्म से ही पसन्द है, कड़वी नापसंद। नाक को गुलाब का फूल सूँघना पसन्द पड़ता है, मल आदि की दुर्गंध नापसन्द। इस प्रकार इन्द्रियों का, अपने-अपने विषयों में रागद्वेष स्वाभाविक है। सुन्दर रूप, साधु और संसारी को समान रूप से प्रिय या पसन्द है। परन्तु दोनों में फ़र्क़ यह है कि साधु सुन्दर रूप देखकर प्रसन्न होता है और बस। संसारी प्रसन्न होता है, इतना ही नहीं, उसे लेने के लिए तड़पता है। साधु श्रेयार्थी है, वह इन्द्रियों की पसन्दगी-नापसन्दगी (रागद्वेष) के वश नहीं होता। संसारी सुखार्थी है, वह रागद्वेष के वश हो जाता है। गीता तो ख़तरे की घंटी बजाती है। रागद्वेष स्वाभाविक हैं; परन्तु फिर भी वे दुश्मन हैं। वे आत्म-कल्याण की ओर नहीं, विषय-सुख-भोग की ओर घसीटते हैं। स्वधर्म में वे विघ्न-बाधा खड़ी करते हैं, अधर्म की ओर चलने को फुसलाते हैं। इसीलिए कल्याण-मार्ग के इन शत्रुओं से बचने के लिए, गीता यथासमय खूब सचेत करती है। हर किसी स्वभाव के वश हो जाना मनुष्यता नहीं।

गीता की सलाह स्वार्थ के सम्बन्ध में भी लागू होती है। स्वार्थ, सुखभोग भले बढ़ाता हो; यज्ञ, दान, सत्य, अहिंसा, दया, क्षमा आदि दिव्य सम्पत्ति (धर्मवृत्ति) को क्षीण करता है। इसलिए वह एक नम्बर का दुश्मन है। स्वाभाविक है, इसीलिए उससे सावधान होने की खास ज़रूरत है।

इष्ट-अनिष्ट की कसौटी

गीता की मुख्य सलाह यही है कि कोई प्रवृत्ति स्वाभाविक है, इसीलिए उसके वश हो जाना योग्य नहीं। देखना यह चाहिए कि वह हितकर है या अहितकर, धर्म-संस्थापना में साधक है या बाधक, दिव्य सम्पत्ति बढ़ाती है या घटाती है, आत्मा को

अभ्युन्नति की ओर ले जाती है अथवा अधोगति की ओर। इस कसौटी पर जो प्रवृत्ति खरी उतरे, वही ग्रहण करने योग्य है; स्वाभाविक या अस्वाभाविक का प्रश्न नहीं है। कल्याणमार्ग के लुटेरों के वश किसी भी शर्त पर नहीं होना है। भगवान् ने तो अंगुलिनिर्देश करते हुए, निश्चित शब्दों में, कह दिया है :—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभः तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत् ॥ १६-२१
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैः त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ १६-२२

काम, क्रोध, लोभ (स्वार्थ के विविध रूप) दुःख के मूल हैं, आत्मा को खड्डे में जा पटकनेवाले हैं। इन लुटेरों के पंजों में जो नहीं पड़ता, वही अपना कल्याण सिद्ध करता है। इसके विपरीत—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ १६-२३

वासना के वश होकर कहो अथवा काम-क्रोधादि (स्वार्थ) से प्रेरित होकर, जीवन की संस्कारिता पर जो दुर्लक्ष्य करता है, और मनमाने रूप से वर्तने लगता है, उसका जीवन व्यर्थ जाता है। उसे न सिद्धि प्राप्त होती है न सुख, न प्रतिष्ठा, न परम गति।

स्वार्थ रोग है, परार्थ आरोग्य

स्वार्थ स्वभाव है या भयंकर रोग, यह भी ठीक-ठीक किसने जाना है ? गीता ने काम, राग, अथवा स्वार्थ (स्वसुखाभिलाषा) को एक प्रकार का ज्वर या बुखार ही कहा है :

युध्यस्व विगतज्वरः।

ऐसा लगता है कि किसी ने ग़लतफ़हमी फैला दी है। सचाई शायद यह है कि अपने लाभ के लिए दूसरों को नुकसान पहुँचाना, खुद मेहनत न करके दूसरों की मेहनत का फल छीन लेना, भयंकर दुर्गुण व अक्षम्य अपराध है। भर्तृहरि के शब्दों में यह मानव-स्वभाव नहीं, राक्षसीपन है। परन्तु आज यह महाव्याधि या

राक्षसीपन बेहद फैल गया है। दो-चार बदमाश लोग ही नहीं, राष्ट्र-के-राष्ट्र खुद मोटे होने के लिए, दूसरों को निचोड़ लेने की तरकीबें निकालने में लगे हैं। इस प्रकार स्वार्थ का दुर्गुण अब इतना आम हो गया है कि इसे धुत्कारते या धिक्कारते हुए, हर किसी को शर्म आने लगी है। इसीलिए स्वार्थ को अब रोग या दुर्गुण नहीं, स्वभाव कहा जाने लगा है, सुन्दर नाम दे दिया गया है। इससे स्वार्थी मनुष्य की शर्म चाहे कम हो जाती हो, परन्तु यह क्या सच नहीं—

'स्वार्थ मनुष्य का दुर्गुण है, परार्थ सद्गुण',
'स्वार्थ रोग या व्याधि है, परार्थ स्वास्थ्य व आरोग्य',
'स्वार्थ पाप है, परार्थ पुण्य',
'स्वार्थ अधर्म है, परार्थ धर्म',
'स्वार्थ अधोगति है, परार्थ अभ्युन्नति',
क्योंकि आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगमन है,
इसलिए परार्थ को आत्मा का स्वभाव मानना होगा।

और इसीलिए परार्थ का विरोधी स्वार्थ आत्मा का स्वभाव नहीं हो सकता।

मनुष्य, स्वभाव कहकर स्वार्थ को छाती से चिपटाए, अथवा परिपन्थी समझकर उससे पीछा छुड़ाए, यह उसकी इच्छा की बात है। वह स्वतन्त्र है; परन्तु यह निश्चित है कि एक पतन का मार्ग है, दूसरा उद्धार का; एक विषाद का, दूसरा कल्याण का; एक नरक का, दूसरा स्वर्ग का।

धर्म का अंकुश

गीता तो काम (स्वार्थ) रूपी मस्त हाथी पर धर्म (परार्थ) का अंकुश रखने की सुनहली सीख देती है। मनुष्य में काम (सुखभोग की इच्छा, स्वार्थ) बलवती शक्ति है। इसे यदि समाज में खुला छोड़ दिया जाय, तो भीषण उत्पात तथा उपद्रव होगा। कमज़ोर कुचले जाएँगे, दुर्बल पिसेंगे। जहाँ-तहाँ शोषण होगा, अशान्ति

फैलेगी, युद्ध मचेगा। इसलिए मस्त हाथी पर धर्म का अंकुश रखना ही होगा। अपने पसीने से अपनी रोटी कमाना, अपने लाभ के लिए किसी का सुख नष्ट न करना, दूसरों को दबाना नहीं, उसकी असहाय अवस्था का फायदा न उठाना, न्यायपूर्वक सम्पत्ति का संविभाग करते हुए सुख-साधन प्राप्त करना, यही सब काम पर धर्म का अंकुश है। काम पर धर्म का यह अंकुश होगा तो व्यक्ति का कल्याण होगा, समाज में शांति होगी, सबकी अभ्युन्नति होगी, सर्वत्र आनन्द होगा—सर्वोदय का लक्ष्य सिद्ध होगा।

काम (स्वार्थ) को क़ाबू में न करना पशुता है। धर्म की मर्यादा में स्थित काम ही अभीष्ट है—

धर्माविरुद्धो लोकेऽस्मिन् कामोऽस्मि भरतर्षभ। गीता ७-११

२७ अप्रैल, १९६४

: २२ :

परार्थ ही सच्चा स्वार्थ

स्वार्थो यस्य परार्थ एव स पुमानेकः सतामग्रणीः ।

—भर्तृहरि

परार्थ ही जिसका स्वार्थ है, वही सब साधु पुरुषों में श्रेष्ठ है ।

संसारी और साधु, मनुष्यों की ऐसी दो श्रेणियाँ तो नहीं हैं, परन्तु दोनों की व्यवहार-पद्धति एक-दूसरे से प्रायः उलटी ही रहती है। संसारी की दृष्टि संकुचित और उथली है, साधु की गंभीर और विवेकपूर्ण । इस दृष्टिभेद के कारण, संसारी मेरे-तेरे का भेद करता है और मात्र अपने सुख के पीछे पड़ता है। साधु इस पचड़े में न पड़कर, दूसरों के सुख का पहले विचार करता है। परिणामतः संसारी व्यग्र और व्याकुल होता है, साधु सुखी और वंदनीय । भर्तृहरि ने निम्न पंक्तियों में यही बात सुन्दर ढंग से कही है :—

नम्रत्वेनोन्नमन्तः परगुणकथनैः स्वान्गुणान्ख्यापयन्तः
स्वार्थान्संपादयन्तो विततपृथुतरारम्भयत्नाः परार्थे ।
क्षान्त्यैवाक्षेपरूक्षाक्षरमुखरमुखान्दुर्मुखान्दूषयन्तः
सन्तः साश्चर्यचर्या जगति बहुमताः कस्य नाभ्यर्चनीयाः ॥

नम्रता द्वारा अपने को ऊँचा उठाते हुए, दूसरों की प्रशंसा से अपने गुणों को प्रकट करते हुए, दूसरों की भलाई के कार्यों द्वारा अपनी भलाई करते हुए, निन्दा तथा आक्षेप आदि करने-वाले दुर्जनों को क्षमा करते हुए, विस्मयजनक व्यवहार करने-

वाले सज्जन, जगत् में किसकी श्रद्धा और पूजा के पात्र नहीं होते !

साधु परार्थ में ही आनन्द

साधु अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए अलग से योजना बनाता हो, ऐसा नहीं है। वह दूसरों की (समाज की) भलाई के कार्यों में व्यस्त रहता है। दूसरों की भलाई करते-करते, उसका भला तो आप-से-आप हो जाता है। भगवान् ने विश्वास दिलाया है :—

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।—गीता ७-२२

'जनता जनार्दन की सेवा में हमेशा निरत रहनेवालों के योगक्षेम (योग=अप्राप्य वस्तु को प्राप्त करना, क्षेम=प्राप्त वस्तु को संभालकर रखना) का भार मैं उठाता हूँ।' संसारी को भगवान् पर भी विश्वास नहीं; इसलिए वह अपना भला पहले संभालता है। साधु श्रद्धाशील है, वह दूसरों की भलाई में व्यस्त रहता है। उसे खिलाने-पिलाने के लिए भगवान् सुधा, अमृत आदि से थाली सजाकर स्वयं हाज़िर होते हैं।

विरोध वास्तविक नहीं

दरअसल कहना यही है कि स्वार्थ-परार्थ में कोई भेद ही नहीं। परार्थ ही स्वार्थ है। जहाँ कोई भेद नहीं, वहाँ भी न जाने किसने भेद खड़ा कर दिया है और सब जगत् को मोह में डाल दिया है। श्री विनोबा जी ने लिखा है—

"वह मनुष्य धन्य है जिसने पहले-पहल यह कल्पना की कि स्वार्थ और परार्थ में अन्तर है। जो वस्तु वास्तव में है नहीं, उसके अस्तित्व को आभासित करने की शक्ति जिसकी बुद्धि में थी, उसका गौरव करने को जी चाहता है। कितना आश्चर्य है कि जो भेद नहीं है वह उसने खड़ा किया और उसे जनता को पढ़ाया भी। इस सबका कारण है यज्ञमय जीवन का अभाव।

इसी से आज व्यक्ति और समाज में भेद उत्पन्न हो गया है।"

ओह ! ग़लत विचारों में श्रद्धा बैठ जाने से, सम्पूर्ण जीवन में कितनी उलट-पुलट हो जाती है ! विचारशील यह ध्यान रख सकें तो जगत् का कितना भला हो !

जीवन-ध्येय सुख है

स्वार्थ-परार्थ के विरोध का मुख्य कारण यह है कि हमारे मन में खरी या खोटी [हेत्वाभासपूर्ण, परन्तु जिनकी भूलों (fallacies) को यथायोग्य ढंग से समझने की हममें क्षमता नहीं] युक्तियों से यह बैठा दिया गया है कि मनुष्य के जीवन का लक्ष्य—परम इष्ट (Summum Bonum)—सुख (ऐहिक सुख—pleasure) है। बुद्धिमूलक उपयोगितावाद (Rational Utilitarianism) के समर्थक सिज्विक का कहना है, 'जब हम शान्ति से विचार करते हैं तो हमारा अंतःस्फुरित निर्णय यह स्पष्ट करता है कि सुख ही एकमात्र श्रेय वस्तु है। ज्ञान, सौन्दर्य, सदाचार तथा दूसरी श्रेष्ठ समझी जाने वाली वस्तुओं में आन्तरिक मूल्य (Absolute Value) कुछ भी नहीं है। उनका जो मूल्य है वह यही कि वे सुख के साधन हैं।

अनुभवमूलक उपयोगितावाद के समर्थक J. S. Mill की युक्ति है कि सब लोग सुख की इच्छा करते हैं, इस मनोवैज्ञानिक तथ्य से यही सिद्ध होता है कि सुख ही एकमात्र इच्छनीय है।

यदि सुख (pleasure) ही अन्तिम लक्ष्य है, तो सुख का बलिदान (परोपकार) कोई करे ही क्यों ? जो व्यावहारिक बुद्धि (Practical Reason) अपने अधिकतम सुख के लिए प्रेरणा देती है, वही बुद्धि सुख के बलिदान (परोपकार) में सन्तोष कैसे अनुभव कर सकती है ? सुखभोग ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य होने से, व्यक्ति-व्यक्ति और व्यक्ति तथा समाज के स्वार्थ में, बाह्य विषयों की मात्रा सीमित तथा भोगेच्छा के निस्सीम होने के कारण, विरोध होना अपरिहार्य है। बेइन ने ठीक कहा है—

"'मुझे सुखी होना है', इस विधान से 'मुझे स्वार्थ त्याग करना है', इस दूसरे विधान पर पहुँचना संभव ही नहीं है।" इस प्रकार या तो सुखवाद का सिद्धान्त छोड़ना होगा या स्वार्थ-परार्थ के द्वैत को दूर करने की आशा ही सब काल के लिए छोड़नी होगी। सिज्विक का भी कथन है कि स्वार्थ-परार्थ में मेल बैठाना, नीति-शास्त्र की सबसे गहन समस्या ठहरती है।

सुखवाद छोड़कर समन्वय

गीता ने सुखवाद छोड़ा है। वह कर्त्तव्य (स्वधर्म) पालन को ही जीवन का लक्ष्य मानती है—'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' कर्त्तव्य-पालन करते हुए बड़ी-से-बड़ी मुसीबत तो क्या, मृत्यु भी आ जाय, तो उसका हँसते हुए स्वागत करने में ही मनुष्य का कल्याण है। सुख-दुःख तो गौण वस्तुएँ हैं, वे आने-जाने वाली हैं, अनित्य हैं, उनका बहुत विचार अयोग्य है :—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदा।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥—गीता २-१४

इन्द्रियों और विषयों के सम्पर्क से सुख-दुःख की अनुभूति होती है। इस अनुभूति के कारण मनुष्य संसार के कामकाज में रचा-पचा रहता है, ठीक है। परन्तु यह तो मानना ही होगा कि मानव-जीवन में, इस अनुभूति ने आवश्यकता से अधिक महत्त्व प्राप्त कर लिया है। सुख-दुःख की सलाह के अनुसार मनुष्य सामान्यतः कर्त्तव्य-कर्म का निश्चय करने लगता है। जिस कर्म से सुख मिले उसे करने के लिए वह प्रेरित होता है, तथा जिससे दुःख मिलने की सम्भावना हो, उससे दूर भागता है। परन्तु सुख-दुःख, कर्त्तव्य-कर्म के निश्चय करने की खरी कसौटी है ही नहीं। जिससे सुख हो वह कर्म अच्छा, और जिससे दुःख हो वह कर्म ख़राब, जीवन में ऐसा बिलकुल नहीं है। इन सब कष्टों और आघातों को जो धैर्यपूर्वक सहन करता है—सत्य और धर्म के मार्ग में सैकड़ों कष्ट आते ही हैं—वही नर वीर कहाता है।

कहना यही है कि जीवन-विकास की दृष्टि से, सुख-दुःख की चाहे कितनी ही अधिक उपयोगिता हो, नैतिक दृष्टि से उनका कुछ भी मूल्य नहीं है। नैतिक दृष्टि से मनुष्य के लिए जो महत्त्व-पूर्ण है वह स्वधर्म है, सत्त्व-संशुद्धि या आत्मकल्याण है। इसीलिए कहा है :—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ २-३८

कर्त्तव्य के आचरण में सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय आदि का सब विचार सर्वथा दूर रखने योग्य है। जिसका विचार करना योग्य है, वह तो केवल धर्म है। इस वृत्ति से किया हुआ कर्त्तव्य निष्पाप या सत्त्व-संशुद्धिकर होता है।

मानव-जीवन में विषय-सुख की कीमत बुद्धिमानों ने नगण्य-सी निश्चित की है, क्योंकि ये सब सुख क्षणभंगुर, अनेक परि-स्थितियों पर अवलम्बित तथा दुःख-परिणामी हैं :—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥ ५-२२

सुख-दुःख प्रकृति की ओर ले जाते हैं, ईश्वर की ओर नहीं। इसलिए जिसे ईश्वर-साक्षात्कार करना है, दूसरे शब्दों में जिसे जीवन सार्थक (सद्गुणों से विभूषित) करना है, उसे सुख-दुःखों से आसक्ति हटानी होगी। जिसे सुख-दुःख व्यथित नहीं करते, अर्थात् स्वधर्म से विचलित नहीं करते, वही धीर पुरुष अमृतत्व या मोक्ष (सर्व दुःखों से विमुक्ति) अनुभव करता है :—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ २-१५

दुःखों से अत्यन्त विमुक्ति ही नहीं, अक्षय आत्मसुख का वही अधिकारी है, जो विषय-सुख से निवृत्त हुआ है :—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥ ५-२१

विषय-सुखों में आसक्ति न रखनेवाला पुरुष अपने अन्तःकरण में अक्षय आनन्द अनुभव करता है।

जीवन-ध्येय

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गीता सुख को परम इष्ट (Summum Bonum) मान्य नहीं करती। जीवन का लक्ष्य गीता के अनुसार—

(क) चित्तशुद्धि (आत्मशुद्धि) है। चित्त की सम्पूर्ण शुद्धि का नाम ही मोक्ष (दुःखों से अत्यन्त विमुक्ति) है :

योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये। ५-११

योगी जन आत्मशुद्धि के लिए कर्म करते हैं।

(ख) दैवी सम्पत्ति (धर्मवृत्ति) का विकास है। धर्मवृत्ति के विकास से मोक्ष प्राप्त होता है :—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१६-१
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दयाभूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥१६-२
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥१६-३
दैवी संपद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ॥१६-५

(ग) ब्राह्मीस्थिति व ब्रह्मरूपता है। ब्रह्मरूपता से परम आनन्द का लाभ होता है :—

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ १८-५३
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ॥१८-५४

'ईश्वररूप होने का प्रयत्न ही सच्चा और एकमात्र पुरुषार्थ है, और यही आत्मदर्शन है। ईश्वररूप हुए बिना मनुष्य का समाधान नहीं होता, उसे शांति नहीं मिलती।'

—महात्मा गांधी

(घ) धर्म-संस्थापना है। ईश्वर के अवतार लेने का जो उद्देश्य है वही मानव-जीवन का उद्देश्य है :—

> परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
> धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥४-८

मनुष्य-जीवन की सार्थकता स्वयं धर्मवान् होने में तथा समाज में धर्मव्यवस्था (प्रेम, दया, न्याय, समानता, भ्रातृभाव, सज्जनता आदि सद्गुण-समुदाय) स्थापित करने में है। धर्म-व्यवस्था की स्थापना के लिए प्रत्येक व्यक्ति का सहयोग अभीष्ट है।

इस प्रकार विभिन्न शब्दों में जीवन का जो परम लक्ष्य, गीता ने प्रस्तुत किया है उसे पूर्णतावाद (Perfectionism), आत्मसाक्षात्कारवाद (Self-realisation) अथवा आत्मकल्याण-वाद (Eudaemonism) आदि शब्दों द्वारा प्रकट किया जा सकता है।

सत्प्रवृत्तियाँ और आनन्द

सुख, जीवन का ध्येय नहीं। ध्येय तो चित्त की सम्पूर्ण शुद्धि, धर्मवृत्ति का विकास, ब्रह्मरूपता अथवा आत्म-दर्शन व आत्म-साक्षात्कार ही है। परन्तु ध्येय की तरफ व्यक्ति ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है, वह आत्मलाभ-(आत्मदर्शन)-जन्य अनुपम आनन्द (Happiness) अवश्य प्राप्त करता चलता है। कहना चाहिए कि जीवन-ध्येय की साधक प्रवृत्तियों के विधान में ही ऐसा आनन्द भरा होता है, जिससे कर्त्ता को सब कर्म ही आनन्द के स्रोत दिखाई देने लगते हैं। कर्म पूर्ण हों, तब जाकर कहीं कर्त्ता को आनन्द प्राप्त हो, यह बात भी नहीं। सत्प्रवृत्तियों के शुरू करते ही, चित्त में आत्मसंतोषजन्य आनन्द और उल्लास उमड़ने लगते हैं। ये सब स्वप्नलोक की कोई हवाई बातें नहीं हैं। जो चाहे आत्मत्याग के कर्त्तव्यों को कर देखे और इस कथन की सत्यता का स्वयं अनुभव कर सकता है।

ध्येय-परिवर्तन से विरोध समाप्त

गीता-प्रतिपादित जीवन-ध्येय की प्राप्ति, परार्थ कर्मों द्वारा होती है। ज्यों-ज्यों दूसरों की भलाई अथवा लोकहित के कार्यों को हम उठाते हैं, त्यों-त्यों हमारी धर्मवृत्ति का विकास होता है अथवा हम ब्रह्मरूपता (आत्मसाक्षात्कार) की ओर आगे बढ़ते हैं। दूसरे शब्दों में स्वार्थ—स्व (आत्म) हित—संपादन करते हैं। इस प्रकार परार्थ और स्वार्थ में विरोध ही कहाँ रहता है? परहित के द्वारा ही हम स्वहित पूर्ण करते हैं। सच है :—

Self-realisation is possible, only through self-sacrifice.

गीता की विशेषता

गीता की एक बड़ी विशेषता यही है कि उसने स्वार्थ और परार्थ के द्वैत को ही मिटा दिया है। ऐसी बात है ही नहीं कि स्वार्थ के काम कुछ और हैं तथा परार्थ के काम कुछ और। परार्थ के लिए धर्मशालाएँ तथा कुएँ बनवाने पड़ते हों तथा स्वार्थ के लिए दूकान पर बैठकर ग़लत तोलना पड़ता हो, ऐसा कुछ नहीं है। जो कोई सामान खरीदने आवे, बिना भेदभाव के, ठीक तोलकर देना, यही स्वार्थ और यही परार्थ है। गीता की दृष्टि में जो स्वार्थ (स्वहित) है वही परार्थ है, जो परार्थ है वही स्वार्थ है।

स्वार्थ-(Selfishness)-युक्त नीची कक्षा की वासनाओं और वृत्तियों का दमन करना तथा परार्थ-सम्बन्धी उच्च कक्षा की भावनाओं (दैवी सम्पत्ति या धर्मवृत्ति) का विकास साधते हुए, चित्त-शुद्धि की पूर्णता की ओर अग्रसर होना कठिन कार्य है। परन्तु 'संस्तभ्य आत्मानं आत्मना' बुद्धि द्वारा मन को वश में करके यह भगीरथ कार्य सिद्ध हो सकता है। गीता को जो कुछ कहना है वह तो यही है :—

जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्।

आसुरी वृत्ति (अधर्मवृत्ति) के सरदार काम-(स्वार्थ, लोभ

आदि)-रूप दुर्जय शत्रु को, पहले बुद्धि-शक्ति को जागृत कर दमन कर। धर्मवृत्ति के विकास का यही द्वार है।

इसी अर्थ में ईसा ने उपदेश दिया है :—

We must die in order to live.

जीने के लिए पहले मरना चाहिए। उक्त विधान में विरोध दीखता है, पर वह विरोध वास्तविक नहीं है। ठीक इसी प्रकार स्वार्थ-परार्थ का विरोध भी सिर्फ़ प्रतीयमान ही है।

मेरे-तेरे का भेद मिटाकर समन्वय

स्वार्थ-परार्थ का समन्वय गीता ने अपने-पराए तथा मेरे-तेरे का भेद मिटाकर भी किया है। अपनी देह में अपने को बाँध लेना मूर्खता है। कुटुम्ब तथा देश की दीवारें ढाहने योग्य हैं :—

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

सबके सुख-दुःख में एक-रूप होने का तथा सबके दोषों को सहानुभूति-पूर्वक देखने का अभ्यास करते चलना है, और शनैः-शनैः सबमें आत्मीयता अनुभव करना है। अपनी झोंपड़ी सबसे अलग करके रोने-झींकने में और दुःखी-दरिद्र होने में क्या आनन्द है? यह तो राग-द्वेष नामक शत्रुओं को अपने घर में स्वयं बुलाना है। आत्मा का विस्तार करना और स्व-पर का भेद मिटाना ही जीवन-ध्येय है :—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥६-३२

सर्वत्र प्रेम, सर्वत्र दया, सर्वत्र आत्मीयता, सर्वत्र समभाव, यही सर्वोत्कृष्ट **योग** है। जिसने यह योग सिद्ध किया है, वही परम योगी है। उसे ही गीता का आदर्श-पुरुष कहो, स्थितप्रज्ञ कहो, ज्ञानी कहो या भक्त कहो।

स्व-पर का भेद जितना-जितना क्षीण होता है, स्वार्थ-परार्थ का द्वैत उतना-उतना आप-से-आप नष्ट होता है। इस द्वैत के नष्ट

होने से श्रेयार्थी को परार्थ में ही रस आने लगता है। यह रस ही वड़ी वस्तु है। जिसे यह रस मिलता है, उसके लिए संयम कुछ भी कठिन नहीं रहता। संयम सिद्ध हुआ तो फिर सब कल्मष (दोष) क्षीण होंगे ही। दोषों की क्षीणता को ही चित्तशुद्धि कहिए। चित्त की अत्यन्त शुद्धि का नाम निर्वाण या मोक्ष (दु:खों से अत्यन्त विमुक्ति) है—

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥५-२५

समस्त प्राणियों के कल्याण के लिए मेहनत करने में जिन्हें रस मिलता है वे **ऋषि,** तत्त्वदर्शी या द्रष्टा हैं। वे अनुभव करते हैं चित्त में अमिट शान्ति, आत्मा में असीम आनन्द। यही जीवन की परम धन्यता है। इसे ही मोक्ष कह लीजिए।

४ मई, १९६४

: २३ :

फललोभी पामर हैं

कृपणाः फलहेतवः

हम लोग बड़े हिसाबी हो गये हैं। लाभ-अलाभ का खूब बारीकी से हिसाब लगाकर ही हम किसी काम में प्रवृत्त होना चाहते हैं। किसी काम से व्यक्तिगत लाभ न हो तो उसे करना हमें बेकार ही प्रतीत होता है। इतना ही नहीं, लाभ वर्षों बाद मिलनेवाला न हो, तत्काल या झट मिलता हो, तभी हमसे उत्साह के साथ कार्य शुरू करते बनता है।

मालूम होता है, भगवान् हिसाबी नहीं हैं, अथवा वे हिसाब-किताब में बहुत कच्चे हैं। इसीलिए वे अर्जुन को सलाह देते हैं :—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥२-३८

नफ़ा-नुक़सान का ज़रा भी हिसाब लगाये बिना, अथवा लाभ-हानि को एक-जैसा मानते हुए, तू युद्ध-कर्म में प्रवृत्त हो जा। अर्जुन बेचारा तो ऋजु मन, सरल चित्त का भोलाभाला योद्धा था। भगवान् के कहने से वह मान गया और गाण्डीव उठाकर शत्रुओं से लड़ने को तत्पर हो गया। हम-सा कोई होशियार होता, तो भगवान् से ज़रूर पूछता कि लाभ-हानि का ठीक-ठीक हिसाब क्यों न लगाया जाय और फिर लाभ-हानि को बराबर

कैसे मान लिया जाय ? लाभ लाभ है, हानि हानि है, दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है।

ज़माना जब इस क़दर होशियारी का हो, तो काम करो, फ़ायदा न देखो, फल पाने का आग्रह न करो, ऐसी उल्टी-सीधी बातें करनेवाला मूर्ख या नालायक़ ही समझा जायगा। अक्ल-मन्द होने का तो हम दावा नहीं कर रहे, लेकिन नालायक़ों में गिनती हो, यह किसको पसन्द होगा ? इसीलिए फलत्याग के फ़ायदे, हम पहले कहीं गिना आये हैं। इस लेख में फल के लोभ व आग्रह से होनेवाले नुक़सानों को ज़रा तफ़सील से उल्लेख करना है। हो सकता है, लाभ-हानि का विस्तृत तलपट (Balance Sheet) सम्मुख आ जाने से, लोभ की मात्रा, बहुत नहीं तो कुछ-न-कुछ तो, कम हो सकेगी। इतनी बड़ी आशा भी हम क्यों कर बैठें ? पाठक विचार करने लग जाएँ, इतना ही बस है।

(क) **एकाग्रता नहीं**

किसी भी कर्म में उच्चकोटि की कुशलता (efficiency), उत्कृष्टता और समग्रता लाने के लिए उसे पूर्ण तन्मयता और एकाग्रता से करना आवश्यक है। फल का लोभ व आग्रह इस तन्मयता को भंग करनेवाला है। फल के लोभी का ध्यान रह-रहकर फल की ओर जाता है। अमुक फल, अमुक परिमाण में मिलेगा कि नहीं, यह चिन्ता, सृष्टि-संचालक के न्याय-नियमों पर आवश्यक श्रद्धा न होने से, उसे हरदम खाये जाती है। निश्चित रूप से और पूर्ण श्रद्धा से, वह अपने कर्म में अपनी सम्पूर्ण आत्मा, उँडेल ही नहीं पाता। परिणामतः फलासक्त व्यक्ति का कर्म, जैसा अन्यथा संभव था, श्रेष्ठ और उत्कृष्ट बन नहीं पड़ता है। उसमें अनेक भूलें और त्रुटियाँ रह जाती हैं। ऐसा कर्म, जिसमें जहाँ-तहाँ थिगलियाँ लगी हैं, कौन-से फल भर लाएगा, यह आसानी से समझा जा सकता है।

अंग्रेज़ लोग, सामान्य रूप से, कर्म को पूजा (Work is

worship) की भावना से करते हैं। इसलिए उनके कर्म में एक प्रकार की सम्पूर्णता और उत्कृष्टता रहती है। हम भारतवासियों को, भगवान् कृष्ण ने फलासक्ति की प्रबलता से छुड़ाने का घोर प्रयत्न किया, फिर भी हम फल के पीछे हाथ धोकर पड़े हैं। कर्म के प्रति विशेष अभिरुचि और उत्साह हमारे यहाँ कम ही दिखाई देता है। चार आने का हम अनुष्ठान करायेंगे और व्यापार में लाभ, शत्रु पर विजय, रोगों से मुक्ति आदि न जाने क्या-क्या फल हमें मिलने ही चाहिएँ, ऐसा आग्रह रखते हैं। इस मनोवृत्ति के कारण ही, हमारे यहाँ के कर्मों में वह उत्कृष्टता और समग्रता नहीं आती, जो पश्चिम के लोगों के कर्म में प्रायः होती है।

हमारे यहाँ छपी छोटी-छोटी पुस्तकों में भी आप बीसियों भूलें प्रायः निकाल ही सकते हैं। इसके विपरीत, इंगलैंड में छपे विशाल ग्रन्थों में एकाध भूल निकालना भी प्रायः कठिन होता है; छपाई आदि की सुन्दरता व स्वच्छता आदि की तो बात ही मत कहिए। एक छोटे-से काम में भी हम फल के पीछे अधिक पड़ने से, आवश्यक सुन्दरता और समग्रता नहीं ला सकते, यह कितने अफ़सोस की बात है!

फल का लोभी यह देख ही नहीं पाता कि हमारा कर्त्तव्य तो सिर्फ कर्म की चिन्ता करना है और आत्मा का सम्पूर्ण रस उँडेलकर उसे दिव्य बना देना है। फल की चिन्ता भगवान् नहीं, तो यह दिव्य कर्म ही पूर्णरूप से कर सकता है।

(ख) विघ्न-बाधाएँ उपस्थित

फल की लालसा, येन केन प्रकारेण, फल प्राप्त करने के लिए मनुष्य को विवश करती है। इस विवशता के कारण, वह उल्टे-सीधे मार्गों को अपनाने लगता है। परिणामतः, सर्वत्र वैर-विरोध और वैमनस्य का वातावरण उसके चारों ओर खड़ा होता है। स्वार्थों का संघर्ष होता है, अनेक मुश्किलें आ उपस्थित होती हैं। इन अप्रत्याशित विघ्न-बाधाओं से लोभी का मनचाहा

फल दूर खिसक जाता है।

साधन-सम्बन्धी अपवित्रता, साध्य की सिद्धि को असंभव भी बना दे तो क्या आश्चर्य है ?

'परिणाम (कर्म के फल) की चिन्ता करनेवाले की स्थिति विषयान्ध की-सी होती है। वह विषयी की भाँति सारासार का, नीति-अनीति का विवेक छोड़ देता है, और फल प्राप्त करने के लिए मनमाने साधनों से काम लेता है, और उसे धर्म मानता है।'

—महात्मा गांधी

फल का लोभी गेहूँ या घी की दुकान की अपेक्षा, शराब की या विदेशी सामान की दूकान खोलेगा। यदि घी की दूकान खोलेगा, तो भी उसमें मिलावट किये बिना मानेगा ही नहीं। उसे अधिक लाभ मिलना चाहिए, बस। उसके कृत्य से समाज में अनीति फैले या देशवासियों का स्वास्थ्य बिगड़े या धन विदेश जाय, इन सबसे उसे कोई सरोकार नहीं। उसकी इस लूट से कैसा ववण्डर उठेगा, यह लोभ ने कब देखा है ?

(ग) निराशा अथवा क्रोध

फल का मिलना, सैकड़ों दृष्ट-अदृष्ट कारणों पर अवलम्बित है। लाख प्रयत्न करने पर भी, फल प्रतिकूल हो सकता है। अनुकूल हो, तो भी वह लोभी की आशाओं से बहुत कम हो सकता है। सृष्टि के स्थल-विशेष में, वृष्टि कब और कितनी होगी, यह दैव के अधीन है। ऐसी अवस्था में फल-विशेष का आग्रह रखना, अनधिकार चेष्टा है, मनुष्य का मिथ्या अहंकार है। इस अनधिकार चेष्टा से, मनुष्य बैठे-बिठाये दुःख मोल ले लेता है।

मनचाहे फल प्राप्त करने में वाधा, यदि दैवकृत हो तो वह निराश होता है। मन-ही-मन जलता है, बाल-बच्चों से चिढ़ता है और सृष्टितंत्र को कोसता फिरता है। यदि बाधा कहीं मनुष्यकृत हुई तो फिर क्रोध भड़क उठता है। वैर बँध जाता है;

सब कुकर्म करने और मरने-मारने की तैयारी होने लगती है। इस प्रकार फल के आग्रह और अहंकार से, अपनी दुर्गति का द्वार, मनुष्य स्वयं खोल लेता है। स्वर्ग में वह नरक की ज्वाला अनुभव करे तो दोष किसका है ?

(घ) स्थिरता नहीं

लोभ धैर्य का शत्रु है। फल की लालसा से, फल पाने की उतावली होने लगती है। इस उतावली से चित्त इतना अधीर और व्याकुल होने लगता है कि फल-प्राप्ति के लिए आवश्यक साधना के सुदीर्घ पथ पर उत्तरोत्तर क़दम बढ़ाना मुश्किल हो जाता है। फल तुरन्त मिल जाय, यही इच्छा होती है। रसीले फलों के लिए, वर्षों तक, आम्रवृक्ष को स्नेहपूर्वक सींचना आवश्यक होता है। जिसे उतावली है उसे रोज़-रोज़ पानी सींचने में थकान अनुभव होने लगती है। कर्म-पथ उसे नीरस और शुष्क प्रतीत होने लगता है। जिसे मार्ग सूखा लगता है, वह अपने उद्दिष्ट स्थान पर न पहुँच सके और हारकर मार्ग में ही बैठ रहे तो क्या आश्चर्य है ?

हमारे देश के बहुत-से लेखक अपने ग्रन्थ में विस्तृत विषय-सूची तथा Index (विषयानुक्रमणिका) आदि प्रायः दे नहीं पाते। इनके लिए धैर्य और विशेष श्रम की आवश्यकता होती है। विषय-सूची तथा Index आदि से पुस्तक की शोभा, सम्पूर्णता और उपयोगिता बहुत बढ़ जाती है, यह हर कोई जानता है। परन्तु लोभजन्य उतावली, ग्रन्थ के इस आवश्यक अंग के लिए धैर्य कहाँ छोड़ती है ?

एक दानी पुरुष ने शिक्षा-संस्था आरम्भ की। लाखों रुपया ख़र्च किया। परन्तु ६ वर्ष में भी विद्यार्थियों की संख्या ३०० से ऊपर नहीं पहुँची। यों संस्था धीमे-धीमे प्रगति कर रही थी और शिक्षा-प्रसार का आवश्यक कार्य कर रही थी। परन्तु बहुत-से मकान खाली पड़े रहने से दानी का धैर्य छूटने लगा। उसकी

गिनती खोटी उतरी। जिस फल की आशा लगाये बैठा था, उसमें विलम्ब होने लगा। कीर्ति के नगाड़े विपुल परिमाण में न बज पाए। परिणामतः, विद्यार्थियों का चरित्र नहीं सुधरा, यह नहीं हुआ वह नहीं हुआ, ऐसे झूठे-सच्चे बहाने बनाकर, कार्यकर्त्ताओं का विरोध होते हुए भी, बनी-बनाई शिक्षा-संस्था को उखाड़ डाला। कहना चाहिए, सौरभ-भरी फूल की सुकुमार कली को जूते से रगड़ डाला। कैसी निर्दय उतावली!! लोभ का कैसा दुष्परिणाम!!

फल का लोभ छोड़कर कर्त्तव्य पर दृढ़ रहा जाए, तो एक-न-एक दिन सिद्धि वरने को अवश्य आती है। भगवान् दयालु हैं। किसी के लिए द्वार सर्वदा के लिए वन्द हों, यह वे देख ही नहीं सकते। क्रम-क्रम से सवकी बारी आती है। सिर्फ धैर्य रखने की ज़रूरत है। पिछले ४-५ वर्षों में ही, कॉलेज में प्रविष्ट होने वाले विद्यार्थियों की संख्या दुगुनी हो गई है। जिस संस्था की हमने बात की है, उसे यदि तोड़ न दिया जाता, तो उसमें भी आज विद्यार्थियों की ज़रूर भरमार होती। लोभ से आँखों में ऐसा अँधेरा भर जाता है कि दूर की वात ज़रा भी दिखाई नहीं देती।

(ङ) कर्म और आनन्दशून्य

वस्तुतः कर्म में जो आनन्द है वह उसके फल (जिसे हम कर्म का फल मानते हैं—वेतन आदि) में नहीं है। इसलिए एक सच्चे कलाकार को अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति में जो आनन्द मिलता है, वह परिणाम में मिलनेवाले पैसों या प्रशंसा से प्राप्त होनेवाले आनन्द से कहीं बढ़कर होता है। एक सच्चा कवि, अपने हृदय में भरे अपरिमित आनन्द को, गीत के स्वरों में उँडेलने में ही, अपना जीवन धन्य समझता है। एक वीर अपने देश की रक्षा के लिए जब युद्धक्षेत्र में उतरता है, तभी उसका हृदय आनन्द से झूमने लगता है। पुण्य कर्म के अनुष्ठान में भरे

आनन्द को, वीर की दिव्य दृष्टि देख रही होती है। इसीलिए आनन्द-लाभ के लिए उसे विजय की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। युद्ध-क्षेत्र सच्चे वीर की रंगस्थली है।

'धर्म और उदारता के उच्च कर्मों के विधान में ही एक ऐसा दिव्य आनन्द भरा रहता है कि कर्ता को वे कर्म ही फलस्वरूप लगते हैं। अत्याचार के दमन और क्लेश के शमन करते हुए चित्त में जो उल्लास और तुष्टि होती है, वही लोकोपकारी कर्म-वीर का सच्चा सुख है। उसके लिए सुख तबतक रुका नहीं रहता जबतक फल प्राप्त न हो जाय; बल्कि उसी समय से थोड़ा-थोड़ा मिलने लगता है जब से वह कर्म की ओर हाथ बढ़ाता है।'

—आचार्य शुक्ल

तात्पर्य यह कि धर्म और उदारता के उच्च कर्म स्वतः ही फल हैं। लोभी को इन फलों से तृप्ति नहीं, वह इन फलों में और फल लगाने चलता है। ज्ञानदेव ने ठीक कहा है—'वृक्ष में फल लगते हैं, पर फल में अब और क्या फल लगेंगे ?' पर लोभी कृपण है। जिन फलों में आनन्द लबालब भरा है, उन्हें वह देख नहीं पाता। जो डालियाँ सूखी हैं, उनमें वह मधुर फलों की तलाश किये जाता है। सरल शब्दों में, फलासक्ति आनन्द के स्रोत को ही, सब काल के लिए सुखा देती है; कर्म को आनन्द-शून्य और अभावमय बना देती है। कैसा दुर्भाग्य है ! भगवान् कृष्ण ने इसीलिए कहा है :—

कृपणाः फलहेतवः। २.४६

फल को हेतु बनाकर कर्म करनेवाले लोग दीन और दया के पात्र हैं।

(च) उत्साह स्थिर नहीं

सत्कर्म में प्रवृत्त होने के लिए तथा उसके मार्ग में आनेवाले अनेक विघ्न-बाधाओं का मुकाबिला करते हुए उसे सफलतापूर्वक समाप्ति तक पहुँचाने के लिए, उत्साह की आवश्यकता होती है।

यह उत्साह (आनन्दपूर्ण प्रयत्न) कर्मभावना (सत्कर्म के सौंदर्य, समाजोपयोगिता, इतिकर्तव्यता आदि के विचार) से भी उत्पन्न हो सकता है तथा उस कर्म से प्राप्त होनेवाले फल (नाम, प्रशंसा, धनप्राप्ति, आदि) की भावना से भी।

साधारण व्यक्ति फल की भावना से ही उत्साहित होते हैं। फल-प्राप्ति से मिलनेवाला आनन्द, उन्हें कठोर कर्म में सहर्ष प्रवृत्त करता है। वे घोर श्रम भी करते हैं। परन्तु फल-भावना से उत्पन्न उत्साह चिरकाल तक स्थिर नहीं रहता है। कठोर श्रम के उपरान्त भी, फल सैकड़ों वाह्य कारणों पर अवलम्बित दिखाई देने लगता है। इस प्रत्यक्ष से फल-प्राप्ति की आशा ज्यों-ज्यों धुँधली और क्षीण होती जाती है, उत्साह भी समाप्त होता जाता है। उत्साह न रहने से या तो सत्कर्म बीच में ही छूट जाता है, अथवा जैसे-तैसे पूर्ण हुआ भी तो वह हतवीर्य होता है। कर्ता के मनसूबों को पूर्ण करने में वह सर्वथा असमर्थ होता है। परिणामतः निराशा होती है

इसके विपरीत सत्कर्म के सौन्दर्य आदि (कर्मभावना) से जो उत्साहित होते हैं, वे ही कर्मण्य, या कर्मवीर कहाते हैं। कर्मण्य व्यक्ति, फल का ध्यान और विचार भी करता ही है, परन्तु उसके लिए यही सब-कुछ नहीं है। फल का विचार उसके उत्साह को उत्तेजित भी करता है, परन्तु फिर भी उसे फल का लोभ नहीं है। उसे प्रीति मुख्य रूप से सत्कर्म से है। इसी से वह सत्कर्म की ओर उसी उमंग और उत्साह से लपकता है, जिस उत्साह और उमंग से साधारण जन फल की ओर।

फल की ओर कर्मण्य व्यक्ति का कर्म प्रवृत्त होता है। वह स्वयं सत्कर्म में मग्न होता है। सम्पूर्ण कर्म-शृंखला उसके लिए आनन्दमय है। इसलिए आशा-निराशा से वह बहुत प्रभावित नहीं होता। वह बराबर सोत्साह उद्योग किये जाता है। अभूतपूर्व विजय उसका स्वागत करती है—

'उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी'

लक्ष्मी उसे जयमाला पहनाती है। महात्मा गांधी जी के शब्दों में 'सत्याग्रही की कभी पराजय होती नहीं।' कैसी आनन्द-मय स्थिति ! कैसी अद्‌भुत विजय !

२६ फरवरी, १९६१

: २४ :

श्रेय और प्रेय

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ
सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयोऽहि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते,
प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ।।

—कठोपनिषद् २-२

श्रेय और प्रेय प्रत्येक मनुष्य के सम्मुख उपस्थित होते हैं। धीर पुरुष दोनों की परीक्षा भलीभाँति करता है। वह प्रेय की अपेक्षा श्रेय को पसन्द करता है। पर 'मन्द', जो मन्दबुद्धि है, वह सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति और प्राप्त पदार्थों की रक्षा की भावना से, दूसरे शब्दों में avarice और attachment, लोभ और आसक्ति के कारण, प्रेय को चुनता है।

दुनिया में दो मार्ग हैं। एक श्रेय मार्ग है, दूसरा प्रेय मार्ग। एक मार्ग वह है जो हमारे सच्चे कल्याण का मार्ग है। दूसरा वह मार्ग है जो हमें आकर्षक, सुन्दर और प्रिय प्रतीत होता है। प्रेय मार्ग सांसारिक सुखों की उपलब्धि का मार्ग है, विषयों की ओर जाती हुई इन्द्रियों की सन्तुष्टि का मार्ग है, प्रलोभनों के सामने सिर झुकाने का मार्ग है। बड़ा हरा-भरा है, फल-फूलों से लदा है। सुहावनी सड़क है। आराम का मार्ग है। दूसरी ओर सूखी पगडण्डी है, न कोई साज़ है, न रौनक़ है। न चमक-दमक है, न तड़क-भड़क है। कर्तव्य का कठिन पथ है। प्रलोभनों से

निरन्तर युद्ध का मार्ग है, प्रिय प्रतीत होनेवाले पदार्थों के परित्याग का मार्ग है। संयम और अनासक्ति का माग है।

एक सुहावना है, दूसरा सूना है। एक सरस है, दूसरा सूखा। एक सुन्दर है, दूसरा सरल। एक में शोर भरा है, दूसरा शान्त है। पर दोनों में अपना-अपना रूप और आकर्षण है। इसी अपने रूप और आकर्षण से, वे हमारे जीवन को भिन्न-भिन्न दिशा में ले चलना चाहते हैं। जो प्रेय को अपनाता है उसका जीवन कैसा होता है, जो श्रेय मार्ग का पथिक है उसके जीवन की क्या विशेषताएँ होती हैं, और श्रेय व प्रेय के परिणाम क्या हैं, यह वताना ही इस लेख का अभिप्राय है।

जो प्रेय मार्ग को पसन्द करता है वह गम्भीर नहीं है, उथला है; जीवन के अर्थ को समझता नहीं; दूर तक देख सकता नहीं; उपनिषद् के शव्दों में 'मन्दः' मूढ़मति है, विवेक और विचार से शून्य है।

मानव-जीवन के सुवर्ण अवसर को और भगवान् की दी हुई अमूल्य शक्तियों को, वह निर्दयतापूर्वक विखेरता है और विनाश करता है। सारहीन गप्पों में, दूसरों की निन्दा और दोष-दर्शन में, ताश, शतरंज इत्यादि अनुपयोगी खेलों के खेलने में, अश्लील उपन्यासों के पढ़ने में, गन्दे सिनेमाओं के देखने में, वाह्य टीप-टाप और अपने को सजाने में, वह वहुत-सा समय नष्ट करता है। सच पूछो तो समय की उसके सामने कोई विशेष क़ीमत नहीं। वह इसे बिना दर्द के नष्ट करने की चीज़ समझता है। जीवन उसका नियमित नहीं, habits उसकी regular नहीं, वह न समय पर सो सकता है और न प्रभात में उठ सकता है।

खाने-पीने का वह बड़ा शौक़ीन है। रसना पर तनिक संयम नहीं। शराब पीने में शूरता और सिगरेट पीने में वह अद्भुत शान समझता है।

आलस्य और प्रमाद उसके जीवन का सार है। परिश्रम और पुरुषार्थ से वह जी चुराता है। अपनी आजीविका के लिए तो

उससे अनथक परिश्रम हो सकता है, परन्तु निःस्वार्थ कार्य के लिए और किसी पवित्र उद्देश्य के लिए, उससे कठोर पुरुषार्थ हो नहीं सकता है। उद्यम, एकाग्रता, दृढ़ता इत्यादि उसके लिए अभिशाप हैं।

वह वर्तमान की ही चिन्ता करता है। क्षणिक सुखों से आगे वह अपनी दृष्टि दौड़ा नहीं सकता है। इसलिए जीवनरूपी समुद्र पर तैरनेवाली फेन या झाग को पकड़कर वह सन्तुष्ट होता है। समुद्र की गहरी गोद में सोनेवाले मोती और गुप्त खज़ाने को खोजने के लिए वह गोता लगा नहीं सकता।

वह money-minded है। दिमाग़ को वह दुनियावी दौलत के खज़ाने की कुञ्जी समझता है। स्वाध्याय अथवा गम्भीर मानसिक चिन्तन को, जिससे धन प्राप्त नहीं हो सकता, मूर्खता समझता है। विज्ञान, धर्म और तत्त्वज्ञान की गम्भीर पुस्तकों को वह न स्वयं पढ़ सकता है और न इस सम्बन्ध की चर्चा सुनना पसन्द करता है। धन उसके जीवन का साधन नहीं, पर साध्य है। अधिक-से-अधिक और जैसे-तैसे हो धन बटोरना उसके जीवन का परम उद्देश्य है।

इन्द्रियाँ विषयों की ओर दौड़ती हैं, पर उसके मन में उन्हें दमन करने की शक्ति नहीं होती। वह रोमांच पसन्द करता है। अधिक-से-अधिक pleasant sensations को लेना चाहता है। इन्द्रियों को गुदगुदानेवाले और काम-भावना उत्तेजित करनेवाले विषयों को, वह पसन्द करता है। वह समझता है, मैं बड़ा सुख भोग रहा हूँ, प्रतिष्ठा पा रहा हूँ और सफल हो रहा हूँ, पर वह अपने-आपको मूर्ख बना रहा होता है।

संक्षेप में कहा जाय तो वह अविवेकी और अदूरदर्शी है। विषयों की मस्ती के बाद क्या है, प्रलोभन के पर्दे के पीछे क्या है, वह यह देख पाता नहीं। परिणाम यह होता है कि वह छला जाता है। छाया पकड़ता है, सार और Substance को छू पाता नहीं। 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्'—चमकीले सोने

के ढकने से सत्य का मुँह ढका हुआ है। दुनिया में सब कहीं धोखा है, झूठी चमक-दमक है। सत्य तो आड़ में छिपा है। जो बाह्य चमक-दमक में फँसता है, वह सत्य का साक्षात् कर पाता नहीं है।

प्रेय मार्ग का परिणाम पतन है, कुण्ठित व्यक्तित्व है, मन और आत्मा का बौनापन है। दुनिया में जो शरीर से बौना है, कितना दुःखी है ! ठीक इसी प्रकार जो सांसारिक ऐश्वर्य के पीछे भागकर अपने मन और आत्मा का विकास नहीं करता, वह मानसिक विकास और ज्ञान की प्राप्ति से मिलनेवाले अनिर्वचनीय आनन्द से वंचित होता है। भोग के पीछे तो पीड़ा है, पश्चात्ताप है, निराशा है, उदासीनता है, अपयश है, अन्धकार है, रोग है और मृत्यु है। प्रेय मार्ग को जो चुनता है वह सुख तो प्राप्त करता है, परन्तु शान्ति और आनन्द वह अनुभव नहीं कर सकता। प्रेय मार्ग से प्राप्त होनेवाला सुख राजस है। भगवान् कृष्ण के शब्दों में—

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥—गीता १८-३८

कठोपनिषद् के शब्दों में 'हीयतेऽर्थात् य उ प्रेयो वृणीते' जो प्रेय मार्ग को स्वीकार करता है वह अपने जीवन के लक्ष्य से च्युत हो जाता है। Solomon, जिसने अपना समूचा जीवन राजकीय विलास में और ऐश में व्यतीत किया था, और जिसके विषय में कहा जाता है कि उसकी सात सौ स्त्रियाँ थीं, के अन्तिम शब्द ध्यान देने योग्य हैं, "Vanity of all vanities. All is vanity." प्रेय मार्ग के परिणाम की यह कितने स्पष्ट शब्दों में घोषणा है। प्रेय मार्ग के पथिक वयोवृद्ध ययाति राजा के अनुभव-भरे शब्दों में भी इसी की प्रतिध्वनि है :—

न जातु कामः कामानां उपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥

दूसरा मार्ग श्रेयमार्ग है। सुन्दर और आकर्षक मार्ग छोड़कर सूखे और कठिन मार्ग को पसन्द करने के लिए गम्भीर चिन्तन

और विवेक चाहिए। उपनिषद् के शब्दों में जो 'धीर' है, 'विकारहेतौ सति विक्रियन्ते, येषां न चेतांसि त एव धीराः', प्रलोभनों के उपस्थित होने पर भी, जिसके चित्त में विकार उत्पन्न नहीं होता, वही इस पथ का राही होता है।

श्रेय मार्ग के अनुगामी के जीवन की सबसे बड़ी विशेषता, सादगी है। सादगी वह गुण है, जो मनुष्य को सच्ची महानता की ओर ले चलता है। जिसमें सादगी नहीं, वह महापुरुष हो ही नहीं सकता। Thomas & Kempis ने लिखा है—

"Purity and Simplicity are the two wings with which man soars above the earth and all temporal nature."

'पवित्रता और सादगी ये दो पंख हैं जिनसे मनुष्य इस पृथिवी और सब पार्थिव स्वभाव से ऊपर उड़ता है।' कहने का अभिप्राय यह है कि अपनी आवश्यकताओं को घटाने से, दूसरे शब्दों में सादगी स्वीकार करने से, मनुष्य उच्च विचार और स्वर्गिक जीवन के योग्य बनता है। आजकल आडम्बर और आवश्यकताओं के बढ़ाने को सभ्यता और शान समझा जाता है, परन्तु सच्ची सभ्यता आवश्यकताओं को सीमित करने में ही है। ऊँची संस्कृति का जन्म सादगी से होता है। पवित्र भारतीय संस्कृति का जन्म तपोवनों और ऋषियों की झोंपड़ियों में हुआ है। व्यायाम से जिस प्रकार शरीर स्वस्थ और सुघड़ बनता है, सादगी से आत्मा उन्नत और विकसित होती है।

श्रेयमार्ग का पथिक इस सादगी को अपनाता है। बहुत-से ढंगों से यह सादगी उसके जीवन में प्रकट होती है। उसका भोजन सादा और सात्त्विक होता है। उत्तेजक राजसी भोजनों को वह नापसन्द करता है। आहार उसका परिमित होता है। दिन में बहुत बार नहीं खाता और न एक समय के भोजन में तरह-तरह की बहुत-सी चीजें खाता है। Dr. A. Haig ने लिखा है, "Simple food of not more than two or three kinds at one meal is another secret of health." श्रेयमार्ग पर चल

रहा व्यक्ति इसे समझता है और इस पर आचरण करता है। वह रसना का ग़ुलाम नहीं। वह जीने के लिए खाता है; खाने के लिए वह जीता नहीं। यह स्मरण योग्य है कि रसना पर विजय पाना, संयम की पहली सीढ़ी है। जो व्यक्ति स्वाद और रसना का दास है, वह न ब्रह्मचारी हो सकता है, न उच्च ज्ञान प्राप्त कर सकता है और न श्रेय के रास्ते पर चल सकता है।

श्रेय मार्ग पर चल रहा व्यक्ति अपनी वेश-भूषा में और घर के साज़ और सामान में भी सादगी बर्तता है। वह न बहुत महँगे कपड़े खरीदता है और न आवश्यकता से अधिक सामान अपने पास जोड़ता है। वह समझता है कि झूठे Prestige और Position के लिए, धन के अपव्यय करने का उसका अधिकार नहीं। वेशभूषा में सादगी का अर्थ, मैले और भद्दे कपड़े पहनना बिल्कुल नहीं है। स्वच्छता और सफ़ाई तो आवश्यक है, परन्तु दर्जनों Suits और प्रतिदिन नई dress से अपने को सजाना आवश्यक नहीं है। क़ीमती कपड़ों द्वारा अपने धन का प्रदर्शन करना भगवान् के दिये धन का दुरुपयोग है। सुन्दर कपड़ों से, और कृत्रिम साधनों से, सौन्दर्य उधार नहीं लिया जा सकता। सच्चे सौन्दर्य को चमकीले व भड़कीले आवरणों की आवश्यकता नहीं। खादी के मोटे और सादे कपड़ों में भी क्या किसी का सौन्दर्य छिपा है? सादगी में शायद सौन्दर्य अधिक वेग से फूट पड़ता है। उत्तम स्वास्थ्य से, सादगी से और सौम्य स्वभाव से जितना सौन्दर्य बढ़ता है, उतना किसी बाह्य साधन से नहीं बढ़ता। A. V. Platen ने ठीक ही कहा है—

"The brightly arrayed, it is true, can enchant yet it wearies us.

The simple gives ever refreshment to eyes of the soul."

श्रेय मार्ग पर चल रहा व्यक्ति व्यवहार में अत्यन्त सरल, सीधा, और सादा होता है। उसमें बनावट और कपट नहीं है। वह न अभिमान करता है, न दम्भ करता है। जो उससे मिलना

चाहता है, वह उसके पास आसानी से पहुँच सकता है। वह सबसे नम्रता और सरल भाव से मिलता है। सबकी बात सहानुभूति के साथ सुनता है। जैसा उसके मन में होता है वैसा ही वाणी से बोलता है, और जैसा वाणी से बोलता है वैसा ही व्यवहार करता है। व्यवहार की इस सरलता और सीधेपन को आजकल मूर्खता और भोन्दूपन समझा जाता है। प्रकृति की पूजा करनेवाली पश्चिमी सभ्यता जैसे-जैसे बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे दम्भ, छल-कपट और कुटिलता भी बढ़ती जा रही है। आकर्षक और मधुर व्यवहार के पर्दे में कुटिल, काले और कलुषित मन को छिपाना, आजकल की परिभाषा में, कला है। कल्याण-मार्ग का राही यह कला जानता नहीं। वह अपने भावों को न छिपा सकता है और न दुनिया को धोखा दे सकता है। ऐसा व्यक्ति झूठे और undue सम्मान से वंचित रहता है; परन्तु उसका हृदय एक सुदृढ़ दुर्ग होता है, जिसमें पाप सुगमता से प्रवेश नहीं पाता। भगवान् कृष्ण के शब्दों में सरलता, दैवी सम्पद् है, हृदय की पवित्रता का चतुर प्रकाशन है, दैवी कृपा प्राप्त करने का अमोघ साधन है।

श्रेय पथ का पथिक अपनी इन्द्रियों का दमन करता है। कामवासना को वह नियंत्रित और अपने आधीन रखता है। मन उसका शक्तिशाली होता है। कामवासना का वह बेबस दास नहीं, अपितु स्वामी होता है। यह वह आग है जो हमारे व्यक्तित्व को जलाकर भस्म कर सकती है और हमारी सब महत्त्वाकांक्षाओं और आदर्शों को धूल में मिला सकती है। Fenelon ने ठीक कहा है—

"Sensuality corrupts the entire heart and eradicates every virtue."

'विषयासक्ति समूचे हृदय को बिगाड़ देती है और प्रत्येक गुण को जड़मूल से उखाड़ फेंकती है।' यौवन के समय जब इन्द्रियाँ, प्रबल होती हैं, तभी संयम का असली समय होता है।

प्रारम्भ में ही जो संयम करता है, वही प्रेम का मधुर आनन्द ले सकता है। जिसने अपनी शक्ति नष्ट कर दी है, वह तो उस आनन्द के लिए सिर्फ़ तरसता है।

आजकल समाज का वातावरण इतना गन्दा और विषैला है कि हमारे देश के युवकों में, समय से पूर्व ही, काम-वासना जागृत हो जाती है। गन्दे सिनेमा, अश्लील नाटक, उपन्यास और नाचघर आदि कामवासना उत्तेजित करते हैं। परिणाम यह है कि नवयुवकों के चेहरों पर, जिस समय यौवन की चमक और आँखों में ज्योति होनी चाहिए, उस समय उनका शरीर जर्जरित हो जाता है, चेहरों पर पीलापन और आँखों में अन्धकार छाने लगता है; अनेक प्रकार के रोगों के शिकार होते हैं और युवावस्था में ही संसार से कूच कर जाते हैं। जो विषयासक्त है, उसका मन दुर्बल हो जाता है। शरीर उसकी मृतात्मा का कफ़न होता है। संयम से प्राप्त होनेवाले आनन्द और मस्ती को वह अनुभव कर ही नहीं सकता। श्रेय मार्ग का पथिक समय पर सावधान होता है और विषय-वासना के विषैले विषधर को वश में करता है।

श्रेय पथ का पथिक कर्त्तव्यनिष्ठ होता है। वह यह समझता है—

'We are not here to play, to dream, to drift,
We have hard work to do, and loads to lift,
Shun not the struggle, 'tis God's gift.'

'हम संसार में खेलने के लिए नहीं, स्वप्न लेने के लिए नहीं और न परिस्थितियों के थपेड़ों से इधर-उधर बहने के लिए आये हैं। हमें कठोर कर्म करना है, भारी बोझ उठाना है और संघर्ष का सामना करना है। अपना कर्त्तव्य निभाना ही तो प्रभु का प्रसाद है।' वह जो भी कार्य करता है, उसे पैसे कमाने का साधन नहीं, अपितु सामाजिक सेवा का साधन समझता है; और इसी भावना से वह अपना कर्म करता है। धन-संचय तो कर्म का

गौण प्रयोजन (function) है। हमारी निःस्वार्थ और परोपकार की वृत्तियों का प्रकाशन करना ही, हमारे कर्म का मुख्य प्रयोजन है। प्रत्येक व्यक्ति, किसी-न-किसी कर्म के लिए इस कर्मभूमि में आया है। श्रेय पथ का पथिक, अपने इस कर्त्तव्य को निश्चित करता है, और उसे विशुद्ध भावना से सम्पन्न करता है। सैकड़ों प्रलोभनों के आने पर भी, वह अपने कर्त्तव्य-पथ पर अटल और अडिग रहता है। दुनिया में उसकी निन्दा हो या प्रशंसा, लक्ष्मी आवे या चली जावे, उसे चिन्ता नहीं। जिसे वह सत्य, धर्म और अपना कर्त्तव्य समझता है, उससे एक क़दम भी वह पीछे हटने को तैयार नहीं। व्यर्थ की बातों में समय व्यतीत करने से उसे व्यथा होती है। संसार में कुछ सृजन करने की उसकी अभिलाषा होती है। अपनी शक्तियों से वह संसार के सुख और सौन्दर्य की वृद्धि करना चाहता है। अपने कर्त्तव्य द्वारा अमिट छाप छोड़ जाने की उसकी धुन होती है। इसीलिए अनथक परिश्रम और कठोर पुरुषार्थ का उसका जीवन होता है।

श्रेय मार्ग का परिणाम आनन्द और कल्याण है। प्रेय मार्ग से प्राप्त होनेवाले सुख और श्रेय मार्ग से प्राप्त होनेवाले आनन्द में भेद है। सुख क्षणिक है, आनन्द स्थायी है। सुख बाह्य वस्तुओं पर आश्रित है, परन्तु आनन्द आत्मा का धन है। वह राजस है, यह सात्त्विक है। भगवान् कृष्ण के शब्दों में—

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥—गीता १८-३७

आत्मा और बुद्धि की निर्मलता से उत्पन्न हुआ सात्त्विक सुख, आरम्भ में विष की तरह कटु, परन्तु परिणाम में अमृत की तरह मधुर होता है। श्रेय का परिणाम जीवन की सार्थकता है, अनुपम शान्ति और अमर यश है। कठोपनिषद् के शब्दों में 'तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति' श्रेय और प्रेय में से श्रेय को चुननेवाले का कल्याण होता है।

११ मार्च, १९४३

: २५ :

रागों का परिष्कार

Men spend their lives in the service of their passions instead of employing their passions in the service of their life. —Steele

कान का विषय सुनना है। जो अच्छा लगे उसे सुनने की इच्छा राग है। जो अच्छा न लगे उसे सुनने की अनिच्छा द्वेष है। अन्य इन्द्रियों के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार समझना चाहिए। ये राग-द्वेष अधर्ममात्र के मूल हैं। सब धर्मग्रन्थों ने इन्हें छोड़ने के लिए कहा है :—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३-३४

हमारी इन्द्रियाँ हर समय 'यह चाहिए, वह चाहिए' करती हुई विषयों के पीछे दौड़ती हैं। जो चाहिए उसके प्रति राग, और जो नहीं चाहिए उसके प्रति द्वेष उत्पन्न हो जाता है। आहिस्ता-आहिस्ता ये राग-द्वेष बढ़ने लगते हैं और सम्पूर्ण मन पर छा जाते हैं। मनुष्य के सबसे बड़े दुश्मन ये ही हैं। इनके चक्कर में जो नहीं फँसता, वही अपना जीवन सफल बनाता है।

राग-द्वेष मारे नहीं जाते

'मनुष्य को जो कुछ करना है, वह तो यही है कि वह इन राग-द्वेषरूपी दो लुटेरों के वश में कभी न हो और उन्हें निकाल बाहर फेंके।' यह तो शुरू में ही कहना चाहिए कि राग-द्वेष

आदि मनोविकारों को मार डालना संभव ही नहीं है। राग-द्वेष आदि मनोविकार मनुष्य के स्वभाव के अंग हैं। स्वभाव का उच्छेद कैसे हो सकता है? फिर राग-द्वेष छोड़कर मनुष्य रहता ही क्या है? भावना-शून्य मनुष्य और पत्थर में विशेष अन्तर ही क्या है? इसलिए राग-द्वेष को नष्ट करने के धर्मध्वजियों के सब उपदेश पाखण्ड हैं। वे लाख चिल्लावें, कितना ही गला फाड़ें, जब तक दुनिया है राग-द्वेष तो रहेंगे ही।

फिर क्रिया-प्रवर्तक तो राग-द्वेष आदि भाव या मनोविकार ही हैं। क़ानून पास कर देने मात्र से उसका अमल नहीं हो जाता। क़ानून अच्छा है, बुद्धिसम्मत है, इस ज्ञानमात्र से क्रिया में कौन प्रवृत्त होता है? क्रिया में प्रवृत्त होने के लिए मन में कुछ वेग आना आवश्यक है। क़ानून की किसी बात से, अथवा उसके पालन के परिणामस्वरूप मिलनेवाले किसी फल से उल्लास, हर्ष, प्रीति, रुचि, राग, उत्साह आदि की भावनाएँ उमड़नी चाहिएँ। इन भावनाओं द्वारा जब मन में वेग आता है, तभी उस क़ानून का उत्साह और उमंग से परिपालन होता है। इससे यह स्पष्ट है कि राग-द्वेष आदि भावनाओं को मार डालने के सब उपदेश, न केवल अस्वाभाविक ही हैं, अपितु सर्वथा अयोग्य भी हैं।

राग-द्वेष के परिष्कार का अर्थ

देश के प्रति राग, सत्य के प्रति आग्रह, धर्म के प्रति प्रीति, कर्तव्य के प्रति आस्था, कला के प्रति प्रेम, महापुरुषों के प्रति श्रद्धा, पिता-माता के प्रति भक्ति, अधर्म के प्रति द्वेष, गन्दगी के प्रति घृणा, पाप से नफ़रत आदि भी राग-द्वेष के ही विभिन्न रूप हैं। बुद्धि के आदेश के अनुसार ये आबद्ध किये गए हैं। इनका विरोध कौन कर सकता है? कहने का तात्पर्य इतना ही है कि राग-द्वेष आदि का परिमार्जन और परिष्कार करना ज़रूरी है। वे अस्थान पर न हों; योग्य स्थान पर हों; बुद्धि द्वारा नियंत्रित

हों। राग-द्वेष के परिष्कार का यही अर्थ है। राग का अभाव जड़ता है। योग्य स्थान पर आवद्ध राग शोभा है, भक्ति है, मानवता है, मुक्ति है।

राग-द्वेष आदि मनोविकारों के परिष्कार में, साहित्य के अध्ययन से वहुत सहायता मिल सकती है। श्रेष्ठ साहित्य का चरम लक्ष्य रागों का परिष्कार ही है। परन्तु आध्यात्मिक चर्चा के प्रसंग में यह चर्चा शायद विषयान्तर ही हो। भगवान् ने जिन साधनों की ओर संकेत किया है, हम उन्हीं का यहाँ उल्लेख करेंगे।

विषयों से राग हटाना

विषयों में इन्द्रियों के स्वच्छन्द और सतत भटकते रहने से उनके प्रति हमारे मन में राग, द्वेष, आसक्ति और आग्रह आदि दृढ़ हो गए हैं। उन्हें शिथिल करना है। इसके लिए कैसी सीधी और सरल युक्ति है :—

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥—गीता २-५८

कछुआ, जहाँ ख़तरा मालूम होता है, अपने अंगों को समेट लेता है। उसी प्रकार अशुभ विषयों से अपनी इन्द्रियों को समेट लेना चाहिए। दुनिया में शुभाशुभ सभी कुछ है। जहाँ तक हो सके, कामोद्दीपक दृश्यों से, अश्लील उपन्यासों से, नशीले द्रव्यों से, गन्दे गानों से, वैभव-विलास से, वनाव-ठनाव से, विलासी वारांगनाओं से दूर ही रहना चाहिए। कोयले की कोठरी में जाते रहने से, कालस न लगे, यह कम ही सम्भव है। कीचड़ में पत्थर फेंकने से, पास में खड़े हुओं के कपड़ों पर दाग़ न लगे, यह कव संभव है? इसलिए सव आग्रह और अहंकार व्यर्थ हैं।

हम ईश्वर नहीं हैं। वह भला-वुरा सव-कुछ देखता है, फिर भी अनासक्त वने रहता है। उसी की यह सामर्थ्य है कि वह कांचनवर्णी कामिनी के अनावृत रूप को फिर-फिर निहारे और

रागशून्य बना रहे। मानव में यह शक्ति कहाँ ? कवि-शिरोमणि ने, 'ज्ञातस्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः' में इसी बात का संकेत किया है। इसलिए दूर रहना ही ठीक है । यदि फिर भी, सब-कुछ देखने का हम हठ करेंगे, तो आँखें फूट जावेंगी और सिर चकरा जावेगा। इसलिए विलास उभाड़नेवाली सब बातों से, नम्रतापूर्वक दूर रहना ही सुरक्षित और श्रेयस्कर है। इस प्रकार अयोग्य स्थान पर बँधा राग शिथिल और क्षीण होने लगेगा।

संकल्प की सहायता से

हृदय में गुदगुदी उत्पन्न करनेवाली बातों से इन्द्रियों को दूर रखना कोई कठिन बात नहीं है। वस्तुतः यह आग में हाथ न डालने जैसी नैसर्गिक बात है। फिर भी, यदि न देखने योग्य को देखने की खोटी आदत दृढ़ हो गई हो, तो बुद्धि उसे, सुदृढ़ संकल्प की सहायता लेकर, दूर कर सकती है। बुद्धि का यह बड़ा समर्थ मित्र है।

सच है इन्द्रियाँ बड़ी हठीली हैं; वे मन को भी घसीट ले जाती हैं। परन्तु मनुष्य भी ऐसा कमज़ोर नहीं जैसा वह अपने को समझता है। भगवान् ने मनुष्य को बुद्धि के साथ दृढ़ संकल्प की अद्भुत शक्ति भी दी है। विवेक द्वारा संकल्प को जागृत कर, वह जो चाहे सिद्ध कर सकता है। वह विद्वान् बन सकता है, विस्तृत वैभव प्राप्त कर सकता है, बड़ी-से-बड़ी विजय प्राप्त कर सकता है।

मनुष्य ने अपने दृढ़ संकल्प को जागृत करके और तदनुकूल पुरुषार्थ द्वारा दुनिया में क्या-कुछ सिद्ध नहीं किया है ? कौन-सी ऊँचाई है जहाँ वह चढ़ा नहीं है ? कौन-सी गहराई है जहाँ वह पैठा नहीं है ? भौतिक और आध्यात्मिक सभी क्षेत्रों में उसकी सिद्धि अद्भुत और अनुपम है। फिर वह दीन-हीन क्यों बने ? प्रभु ने उसे पृथिवी का शृङ्गार बनाया है।

"मनुष्य को आत्मा की अपनी शक्ति का भान नहीं है, इसी कारण वह मानता है कि इन्द्रियाँ वश में नहीं रहतीं, या मन नहीं रहता, बुद्धि काम नहीं करती। आत्मा की शक्ति का विश्वास होते ही दूसरा सब आसान हो जाता है।"

—महात्मा गांधी

राग कहाँ स्थिर करे

अयोग्य स्थान पर बँधे राग को शिथिल करने की यह बात हुई। यह निषेधात्मक साधना है। राग को कहीं समाश्रय भी मिलना चाहिए। नहीं तो इन्द्रियों को बलपूर्वक रोकने पर, मन-ही-मन विषयों का सेवन होने लगता है, जो कम भयंकर नहीं है। बना-बनाया खेल इससे बिगड़ सकता है। इसी से निर्देश है :—

'तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।'

—गीता २-६१

'युक्तिपूर्वक, विवेक और संकल्प के बल से, इन्द्रियों को अशुभ विषयों से रोककर, मनुष्य मत्परायण होकर रहे।' राग को कहाँ स्थिर करना चाहिये इसी का यहाँ निर्देश है। भगवान् कृष्ण जैसे अवतारी पुरुषों के शील और चरित्र के श्रवण, मनन और अनुकरण में अनुरक्ति उत्पन्न करना उपयोगी है।

महापुरुषों के चरित्र में

अज्ञात, अनन्त और अरूप परमेश्वर की बात हम करने लगें, तो यह किसे सुहायेगा? धरती की बात छोड़, क्षितिज के उस पार की जब-तब चर्चा करना, बहुत बार दम्भ और पाखण्ड ही होता है। अज्ञेय और अनन्त की चर्चा, साधु-सन्तों के लिए छोड़ देना अधिक श्रेयस्कर है। हमारे लिए तो भगवान् कृष्ण की जाह्नवी जैसी पावन जीवन-गाथा ही बस है। उनकी बाल-क्रीड़ा में, गो-चारण में, घोड़ों के खुद खुर्रा करने में, निश्छल प्रेम

में, सुहृद्भाव में, शास्त्र-ज्ञान में, कला में, बुद्धि-प्रखरता में, नम्रता में, नीतिनिपुणता में, मन को आकर्षित करने और रमाने की अनन्त सामग्री है। भगवान् की ही यह सब प्रत्यक्ष विभूति है।

धर्माचरण में

यदि मन यहाँ न रमे तो फिर अपने दैनिक व्यवसाय में, स्वधर्माचरण में, सच्छास्त्र में, काव्य में, संगीत में, ज्ञानार्जन में, अन्याय-निवारण में, सद्वृत्तियों के विकास में, दुःखितों की सेवा-सहायता में, मन को अधिकाधिक पिरोना उपयोगी है। राग के लिए बुद्धि-सम्मत यह विशाल क्षेत्र है। सद्गुणों और सत्कर्मों में वही एक झाँकता है। यहाँ उससे मिलते-जुलते रहना कितना आसान है! रोज़ मिलने-जुलने से परिचय और प्रेम हो ही जाता है। उससे अनुराग हो गया तो फिर सब काम सिद्ध ही है।

प्रकृति के सौन्दर्य में

प्रकृति, हमें चारों ओर घेरकर, खड़ी है। मनुष्य के समस्त सुख-दुःखों में, यह अपना स्वर मिला रही है। ऋतु-ऋतु में यह नवीन उमंगों से उल्लसित होती है; प्राणों के कम्पन प्रदर्शित करती है; तरह-तरह की भाव-भंगियों, ध्वनियों और रूप-वैचित्र्य द्वारा हमें आकर्षित करती है, और उसकी ओर मौन परन्तु सशक्त संकेत भी करती है।

नक्षत्रों-भरे आसमान में विखरे पड़े उसके वैभव का, हँसते फूलों में उसके सौन्दर्य का, उमड़-घुमड़कर बहती नदियों में उसकी करुणा का, हिमाच्छादित पर्वत-शिखरों पर उसकी महिमा का, अतलस्पर्शी समुद्रों में उसकी गहराई का, पक्षियों के कलरव में उसके सुरीले स्वरों का, स्पर्श से पुलकित करने-वाले पवन के झकोरों में उसके प्यार का, सहृदय लोग दर्शन कर सकते हैं। यदि हम प्रकृति के पृष्ठों पर लिखी इस भाषा

को न पढ़ सकें, तो भी सौन्दर्य-भरे ये दृश्य नयनों और हृदय को कुछ कम तृप्त करनेवाले नहीं हैं। मन यहाँ खूब रम सकता है।

श्रेष्ठ रस

ज़रा दृष्टि बदलने की ज़रूरत है। पहले थोड़ा परिश्रम करना पड़ता है, फिर तो धीमे-धीमे सत्पुरुषों के चरित्र के श्रवण-मनन में आनन्द आने लगता है। उनके असंख्यों उपकार, प्रीति, अनुकम्पा, उदारता आदि का स्मरण कर रोमांच होने लगता है, आँखें सजल होती हैं, प्रेरणा और उत्साह मिलता है, नवजीवन का संचार होता है, धर्म का पथ आलोकित हो उठता है; फिर तो धृति, दृढ़ चरणों से क़दम बढ़ाने लगती है।

इसे सात्त्विक रस कहिए या भगवल्लीलावगाहन का रस कहिए। जब तक मन ने यह रस चखा नहीं, तभी तक वह इस या उस विषय का रस लेने को छटपटाता है। परन्तु जब असली रस मिल गया, सचाई मन में बैठ गई, तो फिर वह क्यों भटकेगा?

रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।—गीता २-५९

जिसे ईश्वर-साक्षात्कार का रस लग जाता है, वह दूसरे रसों को भूल ही जाता है।

राग-द्वेषादि भावनाओं को, बुद्धि के आदेशानुसार तथा संकल्प की सहायता से, अयोग्य स्थान से शिथिल कर और योग्य स्थान पर स्थिर करने से, उनका आवश्यक परिष्कार हो गया। मन में अब विकारों का अंधड़ नहीं। बुद्धि की आँखें अब धूल से भर-भर नहीं जातीं। वह (बुद्धि) पूर्ण प्रभा से चमकती है। निर्भ्रान्त रूप से वह पथ देख रही है। सात्त्विक शृंगार किये वह आत्मा के समीप चली है। मन उसके वस्त्रादि प्यारपूर्वक सँभालते हुए पीछे-पीछे चल रहा है। क्या सुनहला दृश्य है!

२७ जनवरी, १९५९

: २६ :

ब्रह्मचर्य

बेहद जनसंख्या-वृद्धि रोकनी हो, तथा देश को बौनों और बावलों का देश न बनाना हो तो २०-२५ वर्ष से कम उम्र के स्त्री-पुरुषों का विवाह कानूनन निषिद्ध होना ज़रूरी है।

ब्रह्मचर्य का मज़ाक उड़ानेवालों के लिए प्रो० मोण्टेगज्ज़ा के निम्न शब्द मनन योग्य हैं :—

'ब्रह्मचर्य से स्मरणशक्ति स्थिर, बुद्धि उर्वरा और इच्छा-शक्ति बलवती होती है। मनुष्य के सारे जीवन में वह रूपान्तर हो जाता है जिसकी कल्पना भी स्वेच्छाचारियों को कभी नहीं हो सकती। ब्रह्मचर्य जीवन में ऐसा विलक्षण सौन्दर्य और सौरभ भर देता है कि सारा विश्व नये और अद्‌भुत रंग में रँगा हुआ-सा जान पड़ता है। इधर ब्रह्मचारी नवयुवकों की प्रफुल्लता, चित्त की शान्ति और चमक, और उधर इन्द्रियों के दासों की अशांति, बेचैनी और घबराहट में कितना आकाश-पाताल का अन्तर होता है!'

'इन्द्रियों के असंयम से होनेवाले रोगों को कौन नहीं जानता? शरीर तो सड़ ही जाता है। पर हमें यह न भूलना चाहिये कि उससे भी बुरा परिणाम मनुष्य के मन, मस्तिष्क, हृदय और संज्ञाशक्ति पर होता है।'

अथर्ववेद के अग्रांकित मंत्र में भी ब्रह्मचर्य से होनेवाले अनेक मानसिक लाभों का ऐसा ही दिग्दर्शन कराया गया है :—

ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्ति,
तस्मिन् देवा अधि विश्वे समोताः।
प्राणापानौ जनयन्नाद् व्यानं
वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम्॥ अथर्व० ११-५-२४

ब्रह्मचारी तेजस्वी ज्ञान प्राप्त करता है, उसमें सम्पूर्ण दिव्य गुण भलीभाँति ओतप्रोत होकर रहते हैं। वाणी, मन, हृदय तथा बुद्धि की सर्वशक्तियाँ उसमें विशेष रूप से विकसित होती हैं।

यह तो हर कोई जानता है कि हमारे शरीर में दो प्रकार की अलग-अलग शक्तियाँ हैं—एक मस्क्युलर शक्ति (Muscular strength), दूसरी नर्वस शक्ति (Nervous strength)। इन दोनों शक्तियों की सुरक्षा पर ही सारे शरीर की तन्दुरुस्ती अवलंबित है। पौष्टिक भोजन तथा व्यायाम आदि के द्वारा मसल्स मजबूत रहते हैं, जबकि ब्रह्मचर्य तथा प्रसन्न-चित्तता द्वारा ज्ञानतंतु। यही नहीं, पतंजलि महर्षि के अनुसार 'ब्रह्मचर्य-प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः' शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य की असली नींव ब्रह्मचर्य है। अनेक प्रकार के पराक्रम करने की शक्ति ब्रह्मचर्य से ही प्राप्त होती है। टूबिनगन विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर अस्टर्लन का कथन है :—

'युवकों को यह जान लेना चाहिए कि ब्रह्मचर्य का पुरस्कार उन्हें हृष्ट-पुष्ट शरीर तथा दिन-पर-दिन बढ़ते हुए उत्साह और बल के रूप में मिलेगा।'

ब्रह्मचर्य का व्यापक अर्थ

ब्रह्मचर्य का शाब्दिक अर्थ है ब्रह्म के मार्ग पर चलना। महात्माजी ने लिखा है, 'ब्रह्मचर्य अर्थात् ब्रह्म—सत्य—की शोध में चर्या अर्थात् तत्सम्बंधी आचार। इस मूल अर्थ से सर्वेन्द्रिय-संयम का विशेष अर्थ निकलता है। केवल जननेन्द्रिय-संयम के अधूरे अर्थ को तो हमें भूल ही जाना चाहिए।'

"ब्रह्मचर्य का पूरा वास्तविक अर्थ है ब्रह्म की खोज। ब्रह्म सबमें व्याप्त है। अतएव उसकी खोज अन्तर्ध्यान और उससे उत्पन्न होनेवाले अन्तर्ज्ञान से होती है। यह अन्तर्ज्ञान इन्द्रियों के पूर्ण संयम के बिना नहीं हो सकता। इसलिए सभी इन्द्रियों का तन, मन और वचन से सब समय और सब क्षेत्रों में संयम करने को ब्रह्मचर्य कहते हैं।"

संकुचित अर्थ

'इस ब्रह्मचर्य का पालन बहुत कठिन, लगभग असम्भव माना गया है। इसके कारण की खोज करने से मालूम होता है कि ब्रह्मचर्य का संकुचित अर्थ किया गया है। जननेन्द्रिय-विकार (विषयेन्द्रिय) के निरोधमात्र को ही ब्रह्मचर्य का पालन मान लिया गया है। मेरी राय में यह अधूरी और ग़लत व्याख्या है। विषयमात्र का निरोध ही ब्रह्मचर्य है।' —**महात्मा गांधी**

ब्रह्मचर्य के व्यापक और संकुचित अर्थ में वस्तुतः कोई विरोध नहीं। संकुचित अर्थ करने से ही ब्रह्मचर्य-पालन कठिन हो गया है, ऐसा कुछ नहीं। काम-विजय है ही असल में महा-मुश्किल। किसी कवि ने कहा है :—

विश्वामित्रपराशरप्रभृतयः वाताम्बपर्णाशनाः
तेऽपि स्त्रीमुखपंकजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः।
शाल्यन्नं दधिदुग्धगोघृतयुतं ये भुंजते मानवाः
तेषां इन्द्रियनिग्रहो यदि भवेत्, विंध्यंस्तरेत् सागरम्॥

स्वयं व्यास ऋषि ने, "ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः"—ब्रह्मचर्य का अर्थ जननेन्द्रिय का संयम लिखा है। यही लोकप्रसिद्ध अर्थ है। ब्रह्मचर्य शब्द की यह तो खूबसूरती है कि विषयेन्द्रिय के संयम का मुख्य साधन, स्वयं उसी शब्द द्वारा सूचित होता है। ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर अथवा विद्या में विचरण करने से अथवा उसके प्रति विशेष आस्वाद होने से ही विषयेन्द्रिय का संयम सम्भव है। इस प्रकार व्यापक अर्थ, संकुचित

अर्थ का पोषक है। निराहार से तन विषयों में दौड़ न सकेगा यह ठीक है, परन्तु मन में विषयों की चाह बनी ही रहेगी। यह चाह तो तभी मिटती है अर्थात् सच्ची इन्द्रिय-जय तो तभी प्राप्त होती है जब मन ब्रह्म का रस ठीक-ठीक चखने लगता है :—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥२-५९

ब्रह्म शब्द से डरने की कोई ज़रूरत नहीं है। आत्मा-परमात्मा की यहाँ बात करने का ज़रा भी इरादा नहीं है। सरल शब्दों में, विनोबा जी ने जैसे बताया है, किसी भी बृहत् (विशाल) कल्पना को ब्रह्म कहते हैं। इस विशाल कल्पना (ऊँचे आदर्श) के पूर्ण करने में, शरीर और मन की सब शक्तियों के खर्च करने का नाम ब्रह्मचर्य है। काम-वासना के वश न होना, यह ब्रह्मचर्य का अभावात्मक (Negative) रूप कहा जा सकता है। सब शक्तियों का उपयोग किसी बृहत् कल्पना की पूर्ति के लिए करना, यह उसका भावात्मक (Positive) रूप है। ब्रह्म-चर्य-पालन के लिए, उसके भावात्मक रूप पर ध्यान केन्द्रित करना ही अधिक उपयोगी है।

इस प्रसंग में, अखण्ड ब्रह्मचर्य-व्रत के उपासक श्री आचार्य विनोबा जी का उदाहरण ब्रह्म, ब्रह्मचर्य व बृहत् कल्पना आदि के तात्त्विक अर्थ को विशद करने में अत्यधिक सहायक है। वे लिखते हैं, 'वेदाध्ययन' अथवा 'अनेक विषयों का गंभीर अध्ययन' बचपन की एक बृहत् कल्पना है। इसी प्रकार देश-सेवा एक ऐसी बृहत् कल्पना है, जिसके लिए तन-मन की सम्पूर्ण शक्तियों का उपयोग आवश्यक हो जाता है। इन्हीं बृहत् कल्प-नाओं के ठीक-ठीक धारण करने से, अखण्ड ब्रह्मचर्य-व्रत उनके लिए बहुत-कुछ आसान और स्वाभाविक-सी बात हो गई है। उनके अपने शब्द विशेष समर्थक हैं :—

'अध्ययन करने में अगर हम मग्न हो जायँ, तो उस दशा में विषय-वासना कहाँ से रहेगी ? मेरी माता काम करते-करते

भजन गाया करती थी। रसोई में कभी-कभी नमक भूल से दुबारा पड़ जाता था। लेकिन चिन्तन में, मैं इतना मग्न रहता था कि मुझे इसका पता ही न चलता था। वेदाध्ययन करते समय, मैंने अनुभव किया है कि देह मानो है ही नहीं, कोई लाश पड़ी है, ऐसी भावना उस समय हो जाती थी। इसीलिए ऋषियों ने कहा है कि—'बचपन से वेदाध्ययन करो'। मैंने अध्ययन के लिए ब्रह्मचर्य रखा। उसके बाद देश की सेवा करता रहा। वहाँ भी इन्द्रिय-निग्रह की आवश्यकता थी। लेकिन बचपन में इन्द्रिय-निग्रह का अभ्यास हो गया था, इसलिए बाद में मुझे वह कठिन नहीं मालूम हुआ। मैं यह नहीं कहता कि ब्रह्मचर्य आसान चीज़ है। हाँ, विशाल कल्पना मन में रखेंगे तो आसान है। ऊँचा आदर्श सामने रखना और उसके लिए संयमी जीवन का आचरण, इसको मैं ब्रह्मचर्य कहता हूँ।'

नैष्ठिक ब्रह्मचर्य

यावज्जीवन विवाह न करना और पूर्ण निष्ठा के साथ ब्रह्मचर्यव्रत-पालन करने को अखण्ड ब्रह्मचर्य अथवा नैष्ठिक ब्रह्मचर्य कहते हैं। जिनका जीवन किसी महान् उद्देश्य या आदर्श के लिए अर्पित होता है (महात्मा ईसा, आचार्य शंकर तथा भगवान् दयानन्द जैसे व्यक्ति, जो ज्ञान की उपासना तथा देश व धर्म की सेवा में निरतिशय आनन्द अनुभव करते हैं), उनके लिए नैष्ठिक ब्रह्मचर्य बहुत कठिन नहीं होता।

नैष्ठिक ब्रह्मचर्य की निस्सीम शक्ति और तेजस्विता का वर्णन करते हुए महात्मा जी लिखते हैं :—

'मुझे जब नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहा जाता है, तब मुझे अपने पर दया आती है। जो आदमी मेरी तरह विवाह किया हुआ है और जिसके बच्चे हो चुके हैं, वह नैष्ठिक ब्रह्मचारी क्योंकर कहला सकता है? नैष्ठिक ब्रह्मचारी को न कभी बुख़ार आता है, न कभी उसका सिर दुखता है, न कभी उसे खाँसी होती है और

न अंतड़ी का फोड़ा (एपेण्डिसाइटिस)। डॉक्टर कहते हैं कि अंतड़ियों में नारंगी के बीज भर जाने से भी एपेण्डिसाइटिस हो जाता है। परन्तु जिसका शरीर साफ और नीरोगी है, उसके शरीर में बीज टिक ही नहीं सकता। जब अंतड़ियाँ शिथिल पड़ जाती हैं तब वे ऐसी चीज़ों को अपने-आप बाहर नहीं फेंक सकतीं। मेरी भी अंतड़ियाँ शिथिल हो गई होंगी। इसीलिए शायद मैं ऐसी कोई चीज़ पचा न सका हूँगा। बच्चे ऐसी कई चीज़ें खा जाते हैं। उनपर माँ थोड़े ही ध्यान देती है। उनकी अंतड़ियों की क़ुदरती तौर पर ही इतनी शक्ति होती है कि वे ऐसी चीज़ों को बाहर निकाल देती हैं। इसलिए मैं चाहता हूँ कि मुझे नैष्ठिक ब्रह्मचारी बताकर कोई मिथ्याचारी न बने। नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का तेज तो जितना मुझमें है, उससे कई गुना ज़्यादा होना चाहिए। मैं आदर्श ब्रह्मचारी नहीं हूँ, परन्तु यह सच है कि मैं वैसा बनना चाहता हूँ।'

विद्याभ्यास और विवाह

सामान्य जनों के लिए अखण्ड ब्रह्मचर्य का मार्ग नहीं है। उनके लिए गृहस्थाश्रम ही निरापद है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि जब जी में आया, और गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर लिया। यह तो ऐसा हँसी-मज़ाक है जो समस्त देश को अधोगति की ओर ले-जानेवाला है। विद्याभ्यास करते हुए छोटी उम्र के विद्यार्थियों का विवाह रचानेवाले माँ-बाप, स्कूल और कॉलेज के समस्त वातावरण को क्या नहीं बिगाड़ते? स्कूल और कॉलेज में प्रविष्ट विद्यार्थियों के, विवाह हो सकने या न हो सकने पर क्या कोई बन्दिश नहीं हो सकती? ऐसे गम्भीर प्रश्न पर, चुप रहने के सिवाय, आचार्य के पास कोई चारा ही नहीं! कैसी दयनीय अवस्था है! देश के नियम व क़ानून उसकी क्या कोई मदद नहीं कर सकते? प्राचीन संस्कृति के हम गीत तो बहुत गाते हैं, परन्तु उसकी एक भी उत्तम बात ग्रहण करने के

लिए, हम कोई तैयारी बताते हैं ? देश व जाति की यह भयंकर रोगिष्ठ अवस्था नहीं है ? प्राचीन गुरुकुल और विद्यापीठ वेदाभ्यास के स्थान थे, विवाह के नहीं। शास्त्र, विद्याभ्यास समाप्त करने पर ही, युवकों और युवतियों को, गृहस्थाश्रम-प्रवेश की अनुमति देते हैं :—

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत्॥ मनु ३-२

चारों वेद, तीन वा दो अथवा एक वेद को सांगोपांग पढ़कर तथा आचार्य-कुल में ब्रह्मचर्य व्रत का यथावत् पालन करके, युवक तथा युवतियाँ गृहस्थाश्रम में प्रवेश करें।

कॉलेज में B.A. पास करने का पाठ्यक्रम तीन वर्ष का होना चाहिये या चार वर्ष का, इसके लिए तो हम खूब छानबीन करते हैं। अच्छी बात है। आज़ादी के पश्चात् शिक्षणपद्धति में बुनियादी सुधार करने के स्थान पर, हम तीन वर्ष या चार वर्ष के अभ्यास-क्रम की निकम्मी जद्दोजहद में पड़ गये। कॉलेज का चार वर्ष का अभ्यासक्रम कुछ बुरा न था। वर्षों से चला आया था। हज़ारों विद्यार्थियों ने इसी अभ्यासक्रम द्वारा विशेष योग्यता प्राप्त की थी। उस क्रम को नाहक़ तोड़ने की क्या आवश्यकता थी, हमारे दिमाग़ में तो बात बैठती ही नहीं। सम्पूर्ण देश में चार वर्ष के अभ्यासक्रम होने की एकरूपता और एकसूत्रता थी, वह तोड़ दी गई। कुछ युनिवर्सिटियाँ, 'युनिवर्सिटी ग्रांट्स कमिशन' की ओर से, लाखों रुपयों का लालच देने पर भी, चार वर्ष का अभ्यास छोड़ने को तैयार नहीं। तीन और चार के झगड़े में, ग़रीब देश के करोड़ों रुपयों को निर्दयता के साथ भस्म किया जा रहा है, सचाई यही है। चार के स्थान पर तीन वर्ष का अभ्यासक्रम कर देने से, शिक्षण-स्तर सुधर जायगा, इससे अधिक मूर्खता की बात क्या हो सकती है ? चार वर्ष के अभ्यासक्रम को Integrated बनाने के लिए, आवश्यक फेरफार न किया जाय, यह तो कोई नहीं कहता। यहाँ-वहाँ पाठ्यक्रम के उचित परिवर्तन

से, न एकता भंग होती, न करोड़ों रुपयों का स्वाहा ही होता।

हम तो समझते हैं एकदम ग़लत मार्गदर्शन हो रहा है। हम उस पचड़े में पड़ गये हैं, जहाँ पड़ना न चाहिए था। ज़रूरी तो यह था कि विद्याभ्यास के समय, विवाह क़ानून द्वारा एकदम निषिद्ध ठहराया जाता। इससे शिक्षण-स्तर सुधारने में थोड़ी-बहुत सहायता अवश्य मिलती। साथ ही, जिन्हें ज्ञान की वास्तविक भूख है, उच्च शिक्षण के लिए जो विवाह को मुल्तवी रख सकते हैं, वे ही कॉलेज में प्रविष्ट होते। इससे कॉलेजों में भीड़ कुछ-न-कुछ कम होती तथा शिक्षण का वातावरण स्वच्छ होता।

बाल्यकाल में ब्रह्मचर्य आवश्यक है

संयम का महत्त्व सभी धर्मों में है, परन्तु ब्रह्मचर्य आश्रम की जैसी कल्पना हिन्दू धर्म में है वैसी अन्यत्र उपलब्ध नहीं होती। पहले, प्रत्येक युवक तथा युवति के लिए क्रमशः २५ तथा १६ वर्ष तक ब्रह्मचर्य-पालन आवश्यक था। प्राचीन ऋषियों ने ब्रह्मचर्य को जीवन-यात्रा के लिए अत्यन्त आवश्यक माना था। सम्पूर्ण जीवन-भर इसका पालन अशक्य या कठिन मानकर, उन्होंने बचपन का ब्रह्मचर्य, प्रत्येक स्त्री-पुरुष के लिए अनिवार्य ठहराया था। बाल्यकाल में जिस बालक को पर्याप्त दूध मिल जाय, उसका शरीर इतना हृष्ट-पुष्ट और सशक्त हो जाता है कि वह प्रतिकूल परिस्थितियों का मुक़ाबिला करने की काफ़ी शक्ति पा लेता है। ऐसे बालक का शरीर, प्रौढ़ अवस्था में, पर्याप्त दूध प्राप्त न होने पर भी, विविध रोगों के विरुद्ध लड़ सकता है और अनेक विषमताओं में भी स्थिर और समर्थ बना रहता है। ठीक इसी प्रकार प्राचीन ऋषियों की यह कल्पना थी कि बाल्यकाल के ब्रह्मचर्य-पालन से शरीर, मन और बुद्धि वह खुराक पा लेते हैं, जो उन्हें जीवन-भर सशक्त और सतेज रखने में बहुत मदद करती है।

ब्रह्मचर्याश्रम अर्थात् तपस्वी जीवन

साथ ही, प्राचीन ऋषि विद्यार्थी-अवस्था में, विद्याभ्यास के लिए ब्रह्मचर्य-पालन आवश्यक मानते थे। विद्याभ्यास के काल को वे ब्रह्मचर्याश्रम कहते थे। ब्रह्मचर्याश्रम अर्थात् तपस्वी जीवन, उच्च विचार तथा सादगी का जीवन, संयम तथा कठोरता का जीवन। सुख तथा विलास-लालसा का विद्योपासना के लिए सम्पूर्ण त्याग, शरीर, मन तथा बुद्धि की सर्वशक्तियों का ज्ञान-प्राप्ति के लिए सदुपयोग, ब्रह्मचर्यकाल में आवश्यक ठहराया गया है। ब्रह्मचर्यकाल अर्थात् विद्योपासना की अनंत निष्ठा और नियमित जीवन। मनु ने ब्रह्मचर्यकाल के नियमों का दिग्दर्शन इस प्रकार कराया है :—

वर्जयेन्मधु मांसञ्च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम्॥
अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम्।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम्॥
द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथाऽनृतम्।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च॥
एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत् क्वचित्।
कामाद्धि स्कन्दयन् रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः॥

—मनु० २-१७७ से १८०

ब्रह्मचारी नशीली वस्तुओं का सेवन न करे, उत्तेजक पदार्थों का भक्षण न करे। इत्र-फुलेल आदि सुगन्धित वस्तुओं का व्यवहार न करे, तेल न लगावे, सुरमा न डाले, उबटन न लगावे, फूलों के हार और गहने न पहने, नाचना, गाना-बजाना न करे, जूते न पहने, छाता न लगावे। जुआ न खेले, स्त्रियों को न देखे, स्त्री-सम्बन्धी चर्चा न करे, नियमित सादा भोजन करे, कोमल वस्त्र न पहने, किसी से विवाद न करे, किसी की निन्दा न करे, सत्य बोले, किसी का तिरस्कार न करे, अहिंसा-व्रत का पूर्ण पालन करे, काम, क्रोध और लोभ का सर्वथा त्याग करे। अकेला

सोवे, वीर्य स्खलित कभी न करे, कामेच्छा से वीर्यपात करना ब्रह्मचर्य-व्रत का भंग ही है।

बीभत्स अनुशासन भंग

ब्रह्मचर्य-काल के व्रतनिष्ठ कठोर जीवन की, उपर्युक्त नियमों में, झाँकी मिलती है। इस जीवन के साथ, आज के विद्यार्थियों के जीवन की तुलना की जा सके, तो पता चल सकेगा कि प्राचीन काल में, शिक्षण का स्तर इतना ऊँचा क्यों था, और आज वह शिक्षणस्तर, सब सुविधाओं और ज्ञान के विविध साधनों के सुलभ होते हुए भी, क्यों गिरता गया है! प्राचीन विद्यार्थियों का मन्त्र था :—

सुखार्थिनां कुतो विद्या विद्यार्थिनां कुतः सुखम् ।

वे विद्या की सच्ची उपासना करते थे। आज के विद्यार्थी सुखोपासना अधिक करते हैं, विद्योपासना कम। उनका ध्यान सुन्दर और क़ीमती वस्त्रों की तरफ़ अधिक है। माँ-बाप के पैसे का वे प्राय: निर्ममता से दुर्व्यय करते हैं। हो सके तो वे शाहज़ादों (Lords) की तरह रहना पसन्द करते हैं। गृहकार्य (Home Task) से अधिक उन्हें बनाव-शृंगार का ध्यान है। सिनेमागृहों के पिक्चरों की उन्हें विशेष भूख है। होस्टलों (छात्रालयों) के रहे-सहे नियमों को भंग करने में वे वीरता मानते हैं। स्वादिष्ट भोजन और सब आराम के साधन प्राप्त करने के लिए, होस्टलों में आये-दिन हड़तालें होती हुई सुनी ही जाती हैं। बात को लम्बाना इष्ट नहीं है। एक शब्द में हृदय का उद्गार व्यक्त करें, तो कहना होगा कि आज के विद्यार्थियों का अनुशासन-(Discipline)-भंग एकदम बीभत्स और भयंकर है।

ब्रह्मचर्याश्रम की नींव

स्वतन्त्रता के पश्चात् शिक्षण-पद्धति में, जो बुनियादी फेर-

फार करना था, वह तो यह था कि विद्यार्थियों के लिए व्रतनिष्ठ, अनुशासनबद्ध और अत्यन्त सादगीपूर्ण जीवन आवश्यक ठहराया जाता। कठोर-से-कठोर नियमों के पालन का आग्रह रखकर, उनके जीवन को तपस्वी बनाने की हर कोशिश की जाती। अफ़सोस से कहना पड़ता है कि कॉलेज और होस्टल, रंगरलियों और विलास के स्थान अधिक बनते जा रहे हैं, ब्रह्मचर्य और संयमी जीवन के कम। इस दिशा में आमूल परिवर्तन करने की ज़रूरत थी। दूसरे सभ्य देशों के विद्यार्थियों के जीवन की अपेक्षा आध्यात्मिक कहे जानेवाले हमारे देश के विद्यार्थियों का जीवन, अधिक विलासी, स्वच्छन्द और ग़ैरज़िम्मेदार है, यह कहते शर्म अनुभव होती है। कठोर हाथों से इसे ठीक करने की ज़रूरत थी, और ब्रह्मचर्याश्रम की नींव डालने की ओर क़दम बढ़ाना था। सारी शक्ति इस दिशा में लगाई जाती तो क्या नहीं हो सकता था? परन्तु हम पड़ गये तीन और चार वर्ष के झगड़े के पचड़े में। नदी की धारा मोड़ना मुश्किल है; परन्तु 'किं दूरं व्यवसायिनाम्' कृतसंकल्पों के लिए क्या असम्भव है?

गृहस्थाश्रम में प्रवेश कब?

यों भी, १६ वर्ष से कम उम्र की कन्या और २५ वर्ष से कम उम्र के युवक को, शास्त्र, विवाह की इजाज़त नहीं देते। मुनिवर धन्वन्तरि सुश्रुत में लिखते हैं:—

> **ऊनषोडशवर्षायां अप्राप्तः पंचविंशतिम्।**
> **यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते॥**
> **जातो वा न चिरं जीवेत् जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः।**
> **तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत्॥** अ० १०-४७,४८

'१६ वर्ष से कम उम्र वाली स्त्री में, २५ वर्ष से कम आयु वाला पुरुष जो गर्भ स्थापन करे, तो वह कुक्षिस्थ हुआ गर्भ विपत्ति को प्राप्त होता है अर्थात् पूर्णकाल तक गर्भाशय में रह-कर उत्पन्न नहीं होता।'

'अथवा उत्पन्न हो, तो फिर चिरकाल तक नहीं जीता, जीता है तो दुर्बलेन्द्रिय होता है। इस कारण से बाल्यावस्था वाली स्त्री में गर्भ-स्थापन न करे।'

तात्पर्य यह है कि स्त्री-पुरुष के शारीरिक विकास का यथा-योग्य विचार करके, सुश्रुत के कर्त्ता यह निश्चित सम्मति प्रकट करते हैं कि १६ और २५ वर्ष से कम आयु के स्त्री-पुरुषों का विवाह, व्यक्ति और जाति के हित की दृष्टि से सर्वथा अयोग्य है। मुनिवर धन्वन्तरि ने यहाँ धर्म की कोई चर्चा नहीं की है; परन्तु देश को दुर्बलेन्द्रिय सन्तान के अभिशाप से बचाने के लिए, शरीरविज्ञान के निष्णात की दृष्टि से एक व्यवस्था दी है। हमने इस व्यवस्था को नहीं माना और गुड्डे-गुड्डियों के विवाह रचाने में ही आनन्द माना। बाल-विवाह के पाप के कारण ही हमारे देश में, हृष्ट-पुष्ट शरीरवाले वीर्यवान् नवयुवक, जो कठिन और अविरत श्रम कर सकें, विरले ही नज़र आते हैं। जनसंख्या कीड़े-मकोड़ों की तरह बढ़ती जा रही है, लेकिन जाति धीरे-धीरे बौनों की बनती जा रही है। फिर भी, बचपन की विवाह-शादियों को छोड़ने को हम तैयार नहीं, और २०-२५ वर्ष से कम उम्र की युवतियों और युवकों का विवाह क़ानूनन निषिद्ध ठहरा देने से हिचकते हैं।

१३ वर्ष की लड़की माँ बने, यह क्या जंगलीपन नहीं ?

कल ही (२८ जून, १९६४), एक समाचारपत्र (गुजरात मित्र) में समाचार प्रकाशित हुआ है कि जामनगर ज़िले के सलाया ग्राम के निवासी, ११ बच्चों के बाप एक वृद्ध मुस्लिम श्रीमंत और १३ वर्ष की एक कुमारी का विवाह, राजकोट में धूमधाम से सम्पन्न हुआ। हम पूछते हैं १३ वर्ष की कुमारिका पर यह ज़ुल्म नहीं है ? एक कुमारिका की ही बात नहीं, सारे देश को छिन्न-भिन्न करनेवाला यह अन्याय और अनाचार नहीं है ? जिस देश को अपने राष्ट्र का नवनिर्माण करना है,

जिसे अपने नवयुवकों को निर्बल, निर्वीर्य और सत्त्वहीन होने से बचाना है, वह क्या ऐसी अनीति और कुकर्म को क्षणभर के लिए भी सहन कर सकता है? है कोई ऐसा सभ्य देश जहाँ ऐसा जंगलीपन क्षम्य समझा जाता हो? हम पूछते हैं देश का क़ानून क्यों चुप है? देश के संविधान (Constitution) में, ऐसे वहशीपन को रोकने की क्या कोई व्यवस्था नहीं है? देश को दुर्बल बनानेवाली अनीति और अनाचार पर सख्त प्रतिबन्ध होना क्या धर्म नहीं है? धर्मनिरपेक्ष राज्य होने का दावा करनेवाले देश में, इस या उस धर्म का सवाल, होना ही क्यों चाहिए? सवाल राष्ट्र को सबल और हृष्ट-पुष्ट शरीरवाले नवयुवकों का देश बनाने का है। इस दृष्टि से आज की परिस्थितियों का विचार करते हुए २० और २५ वर्ष से कम आयुवाले स्त्री-पुरुषों का विवाह क़ानूनन निषिद्ध क्यों नहीं होना चाहिए? देश, जाति और समाज के सुधार के लिए ऐसा क़ानून जितनी जल्दी बनाया जा सके उतना क्या हितकर नहीं है? स्त्री-पुरुषों की विवाह योग्य आयु कम-से-कम २० तथा २५ वर्ष क्रमशः ठहरा देने से, देश की जनसंख्या-वृद्धि की भयंकर समस्या का भी, कुछ-न-कुछ योग्य समाधान हो ही सकेगा। अत्यधिक उत्पादन-शक्ति (Fecundity) की अवधि के आंशिक रूपेण गुज़र जाने से, सन्तानोत्पत्ति में कमी होगी, यह निर्विवाद है।

समान अधिकार-शिक्षा से

साथ ही, कम-से-कम २०-२१ वर्ष की कन्याओं का विवाह क़ानूनन होने से, उच्च शिक्षण के लिए विशेष प्रोत्साहन मिल सकेगा। यह प्रोत्साहन देश के उज्ज्वल भविष्य के लिए आशीर्वाद-रूप सिद्ध हो सकेगा। उच्च शिक्षण प्राप्त करके स्त्रियाँ अपने पैरों पर खड़े हो सकने की योग्यता प्राप्त कर सकेंगी, आर्थिक पराधीनता के अनेक जुल्मों से बच सकेंगी, गृह-प्रबन्ध सुन्दर व

व्यवस्थित कर सकेंगी तथा अपनी सन्तान को उत्तम नागरिक बनने में अनेक प्रकार से उपयोगी सहायता दे सकेंगी। पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त करने के लिए स्त्रियों को किसी जद्दोजहद करने की ज़रूरत नहीं; उच्च शिक्षण के विस्तार से उन्हें उनके सब अधिकार आप-से-आप प्राप्त हो जायेंगे।

२६ जून, १६६४

: २७ :

गृहस्थ और ब्रह्मचर्य

> २००० में हमारे देश की जनसंख्या एक अरब होगी। बुरे दिनों से बचना हो, तो उपाय है तीसरी सन्तान के बाद वन्ध्यीकरण (Vasectomy)।

अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन जनसाधारण के लिए शक्य नहीं है। भीष्म, हनुमान, शंकराचार्य, चैतन्य, जॉन ऑफ़ आर्क, माइकेल एंजेलो, रामकृष्ण, दयानन्द, आचार्य विनोबा जैसे विरले व्यक्ति ही, सांसारिक सुख त्यागकर साहित्य-सृजन, कला-निर्माण, देश, जाति तथा धर्म की सेवा व मानव-कल्याण के लिए अपनी कामवृत्ति (Sexual instinct) का सर्वतोभावेन उन्नयन (Sublimation) करने में समर्थ होते हैं। कामवृत्ति का ऐसा सर्वोच्च कोटि का सर्वार्पण करनेवाले स्त्री-पुरुष ईश्वर के नज़दीक रहते हैं, या यों कहिए कि ईश्वररूप होते हैं। वे धन्य हैं! अखिल जगत् द्वारा वन्दनीय हैं।

विवाह का उद्देश्य

सामान्य पुरुषों के लिए विवाह ही अभ्युन्नति तथा निःश्रेयस का मार्ग है। महाकवि ने रघुवंशियों का वर्णन करते हुए ज़रूर कहा है—'यौवने विषयैषिणाम्', परन्तु विवाह विषय-भोग का परवाना नहीं है। विवाह पति-पत्नी की एक-चित्तता के लिए

है, एक-दूसरे के दोषों को दूर करने और सहनशीलता, स्वार्थ-त्याग तथा स्नेहभावना का विस्तार आदि गुणों की वृद्धि में सहायक होने के लिए है। गृहस्थाश्रम, श्रेष्ठ गुणों से अलंकृत सन्तान-अर्पण द्वारा, राष्ट्र की सेवा करता है। महात्मा जी के शब्दों में, "विवाह का उद्देश्य दम्पती के हृदयों से विकारों को दूर करके उन्हें ईश्वर के निकट ले जाना है।"

'कामस्य द्वे भार्ये रतिश्च प्रीतिश्च'

रति की अति से प्रीति क्षीण होती है। प्रीति जिससे क्षीण होती हो ऐसा कुछ भी इष्ट नहीं, क्योंकि जगत् में प्रीति से बढ़कर श्रेष्ठ वस्तु कुछ भी नहीं।

सन्तुष्टो भार्यया भर्ता, भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं, कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥

प्रीति को नित्य नवीन बनाए रखने के लिए व्यास महर्षि ने ठीक कहा है :—

'सेवेत कामाननुद्धतः' ।—शान्ति पर्व

काम-तृप्ति में मर्यादा ज़रूरी है। सुपरिष्कृत और मर्यादित काम ही धर्म है। सन्त फ्रांसिस का कहना है कि "कामवासना की दवा के रूप में विवाह बड़ी अच्छी वस्तु है। परन्तु वह कड़ी दवा है, और इसलिए यदि बहुत सँभालकर उसका सेवन न किया जाय तो ख़तरनाक है।"

ब्रह्मचर्य की सौम्य आवृत्ति

वर्तमान समय के मनोवैज्ञानिक कामवासना या संगमेच्छा को 'Sex appetite' कहकर, भूख-प्यास आदि शारीरिक आवश्यकताओं के साथ उसकी तुलना करते हैं। इस तुलना द्वारा वे यह कहना चाहते हैं कि जिस प्रकार भूख-प्यास आदि आवश्यकताओं का, कुछ समय के लिए ही दमन किया जा सकता है, अन्न-जल आदि का सर्वथा त्याग असम्भव है; यही नहीं, अपितु उनके यथायोग्य सेवन पर ही शारीरिक स्वास्थ्य, शक्ति और

समृद्धि निर्भर है, ठीक इसी प्रकार काम-वासना (Sex appetite) को कुछ समय के लिए दबाना भले ही उचित हो, उसे यदा-कदा समागम आदि द्वारा तृप्त ही न करना, शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से हानिकर है।

कामवासना की भूख-प्यास के साथ तुलना करना और यह प्रमाणित करना कि उसे तृप्त करना अत्यन्त आवश्यक है, सचाई की दृष्टि से शायद बहुत युक्तिपूर्ण न कहा जा सके, क्योंकि कुछ-एक व्यक्ति विषय-सेवन बिना ही स्वस्थ और तेजस्वी जीवन व्यतीत करते हुए देखे जाते हैं। परन्तु यह तो मानना ही होगा कि काम-वासना, उत्कटता में भूख-प्यास आदि से ज़रा भी कम नहीं है। इसके वेग को रोकना नदी की बाढ़ को रोकने के समान ही अति विकट है। इसीलिए ब्रह्मचर्य के पालन को असिधारा-व्रत कहा है। प्राचीन ऋषियों ने यह सब भली-भाँति अनुभव किया था। इसीलिए उन्होंने विभिन्न स्थिति के स्त्री-पुरुषों के लिए ब्रह्मचर्य की भिन्न-भिन्न व्याख्या प्रस्तुत की है। गृहस्थों के लिए उन्होंने पर-स्त्री-गमन निषिद्ध ठहराया है और 'स्वयोषिति रति'—अपनी स्त्री के साथ रति को उचित बताया है। यह रति यदि मर्यादित हो अर्थात् उचित ठहराई हुई रात्रियों में ही सीमित हो, तो उसे एक प्रकार का संयम अथवा ब्रह्मचर्य का नाम दिया जा सकता है। गृहस्थ के धर्मों का विवरण देते हुए मनुस्मृति में कहा है :—

ऋतुकालाभिगामी स्यात् स्वदारनिरतः सदा।
पर्ववर्जं व्रजेत् चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया॥ मनु० ३-४५

अर्थात् गृहस्थ को अपनी विवाहिता स्त्री को छोड़कर अन्य के साथ समागम न करना चाहिए। अपनी स्त्री के साथ भी पर्व के दिनों में समागम न करे। केवल ऋतुकाल में ही समागम उचित है। 'प्रशस्ताः दशरात्रयः'—स्त्री-समागम के लिए प्रतिमास १० रात्रियाँ ही प्रशस्त हैं। तथा—

निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन् ।
ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन् ॥ मनु. ३-५०

यदि कोई मनुष्य उचित रात्रियों में पत्नी-समागम करता है तो उसको, गृहस्थ होते हुए भी, ब्रह्मचारी ही समझना चाहिए।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि मनु महाराज ने गृहस्थों के लिए, ब्रह्मचर्य की एक सौम्य आवृत्ति (यदि श्री काका कालेलकर जी के शब्दों का प्रयोग करें तो) तैयार की है, जिसका पालन वे कर सकते हैं, अथवा यों कहिए कि जिसका पालन व्यक्तिगत विकास, सुयोग्य सन्तान, पारिवारिक सुख-शान्ति तथा सामाजिक कल्याण आदि के लिए उन्हें अवश्य करना है। इस सौम्य आवृत्ति द्वारा, मनु का उद्देश्य, विलासिता को मर्यादित करना है और गृहस्थों को ब्रह्मचर्य के आदर्श की ओर उन्मुख करना है। दूसरे शब्दों में कहना हो तो कहा जा सकता है कि विलासिता एक सीमा है, ब्रह्मचर्य दूसरी सीमा है। एक विकृति है, दूसरी लगभग अव्यावहारिक अवस्था। मनु ने इनके बीच में से मार्ग निकाला है। गृहस्थाश्रम, इस प्रकार मध्यम मार्ग है, अथवा सर्वसाधारण के लिए व्यावहारिक संयम-मार्ग है। इसमें काम और धर्म का अथवा प्राकृतिक वासना और धार्मिक आदर्श का, सुभग समन्वय लक्षित होता है। मध्यम मार्ग सदा निरापद है, यह स्वतःसिद्ध है।

सन्तानोत्पत्ति की इच्छा बिना समागम पाप है ?

'अनीति की राह पर' में महात्मा जी ने लिखा है—'सन्तति-निग्रह की आवश्यकता के विषय में दो मत हो ही नहीं सकते, लेकिन युगों से इसका केवल एक ही तरीक़ा रहा है, और वह है आत्मसंयम या ब्रह्मचर्य। अगर डॉक्टर लोग सन्तति-निग्रह के उपाय निकालने के बदले आत्म-संयम के उपाय ढूंढें, तो संसार उनका ऋणी रहेगा। संभोग का उद्देश्य सुख नहीं, बल्कि सन्तानोत्पादन है। जब सन्तानोत्पत्ति की इच्छा न हो तब संभोग

करना अपराध है, गुनाह है।'

(क) गृहस्थाश्रम, जैसा पहले कहा है, कामवासना को मर्यादित अवकाश देने के लिए है। कामवासना को कहाँ तक मर्यादित करना है, यह मनु आदि स्मृतिकारों ने विस्तार से सूचित किया है। महात्मा जी का उपर्युक्त कथन उन स्मृतिकारों से मेल खाता प्रतीत नहीं होता। वे भोगेच्छा को आवश्यकता से अधिक जकड़ देना चाहते हैं। वस्तु-स्थिति को देखकर प्राचीन ऋषियों ने गृहस्थों को जो छूट दी थी, उसे वे लगभग छीन लेना चाहते हैं।

आदर्श की दृष्टि से यह सही हो सकता है, परन्तु जन-साधारण की वर्तमान स्थिति में यह संभव है, ऐसा प्रतीत नहीं होता। स्वयं महात्मा जी ने स्वीकार किया है—'प्राकृतिक नियम तो यह है कि जब सन्तति की इच्छा हो तभी ब्रह्मचर्य तोड़ा जाय। ......लेकिन अफ़सोस ! ऐसे स्त्री-पुरुष क्वचित् ही दिखाई पड़ते हैं, जो केवल सन्तानोत्पत्ति के लिए ही संभोग करते हों। ज़्यादा-तर अपनी कामवासना की पूर्त्ति के लिए ही संभोग करते हैं।' इस प्रकार तो प्रायः हर गृहस्थी गुनाहगार ठहरता है, और ब्रह्मचर्य निरी काल्पनिक वस्तु।

(ख) महात्मा जी के कथन का तर्कयुक्त परिणाम तो यही होगा कि गृहस्थी को यावज्जीवन कुल ५-६ बार ही संभोग की छूट होगी, क्योंकि वर्तमान स्थिति में दो-तीन से अधिक सन्तान का बोझ उठाने की जनसाधारण में न शक्ति है, और न राष्ट्र इससे अधिक सन्तान उत्पन्न करने की इजाज़त ही दे सकता है। उपर्युक्त परिस्थिति की पृष्ठभूमिका में महात्मा जी की सलाह कितनी व्यावहारिक है, यह विचारना होगा।

(ग) गृहस्थाश्रम जनसाधारण के लिए है, वैरागियों और संन्यासवृत्ति वालों के लिए नहीं। काम के स्वाभाविक और अति प्रचण्ड आवेग को, गृहस्थी लोग किस हद तक दबा सकेंगे, यह विचार करते हुए ही पाप और पुण्य की सीमा निश्चित की

जानी चाहिए। असाध्य आदर्श, जनसमाज के मन में नाहक़ पाप की अनुभूति उत्पन्न कर उसे शोकग्रस्त और शक्तिहीन बना देते हैं।

(घ) स्मृतिकारों ने मर्यादा में रहकर संभोगेच्छा पूरी करने की विवाहितों को इजाज़त दी है।

(ङ) सन्तानोत्पत्ति की इच्छा के बिना संभोग पाप है या नहीं, यह प्रश्न धर्म-शास्त्रों से जितना सम्बन्ध रखता है उससे अधिक शायद शरीर-विज्ञान से। संसार के डॉक्टर इस विषय में शायद अब तक एकमत नहीं हैं। कितने ही डॉक्टरों की राय है कि जवान स्त्री-पुरुषों को स्वास्थ्य-रक्षा के लिए संभोग द्वारा वीर्यपात का अवसर, कभी-कभी मिलना ही चाहिए। यदि कामावेग को मर्यादा में रहते हुए, संभोग द्वारा सन्तुष्ट न किया जाय, तो वह उल्टे-सीधे रास्ते जाकर प्रकट होकर ही रहता है और अनेक शारीरिक विकृतियाँ उत्पन्न करता है।

(च) वीर्यपात होने से स्वास्थ्य को नुक़सान होता है, यह बिलकुल ठीक है। परन्तु सहस्रों विवाहितों का अनुभव तो यही कहता है कि यदि सन्तानोत्पत्ति के हेतु के बिना भी, गृहस्थी को मर्यादित संभोग की छूट न हो, तो वीर्यपात कहीं अधिक परिमाण में होगा। यही नहीं, कामवृत्ति को योग्य द्वार न मिलने पर, मनुष्य के स्वभाव में अनेक विकृतियाँ भी उत्पन्न होंगी; यथा—मानसिक अस्थिरता, विषण्णता, चिड़चिड़ापन, ज़रा-ज़रा-सी बात पर उलझ पड़ना, कमज़ोर याददाश्त, विचार-शक्ति की क्षीणता, बेचैनी, सिड़ीपन आदि।

(छ) मर्यादित संभोग, गृहस्थियों के लिए स्वास्थ्य-रक्षा के साथ-साथ आनन्द-प्राप्ति का भी साधन है। यही नहीं, एक-दूसरे की प्रेमयाचना पूर्ण करने द्वारा यह परस्पर प्रीति बढ़ाने में भी सहायता अवश्य करता है। यह साधन भले ही दुर्बल हो, परन्तु गृहस्थी स्त्री-पुरुषों से इसे छीन लेना क्या अविचारपूर्ण न होगा? प्रसिद्ध मानसशास्त्री श्री जे० ए० हेडफ़ील्ड ने

'Psychology and Morals' नामक पुस्तक में लिखा है—

"विषय-वासना संभोग द्वारा संयत रूप में व्यक्त होकर दाम्पत्य प्रेम को गाढ़ बनाती है, न कि उसे नष्ट करती है। लेकिन एक ओर तो मनमाने संभोग करने से, और दूसरी ओर संभोग के विचार को ही नीचे दर्जे का सुख मानने के भ्रम में पड़कर उससे परहेज़ करने से, अक्सर अशान्ति पैदा होती है और प्रेम शिथिल पड़ जाता है।"

कृत्रिम साधनों का उपयोग

उपर्युक्त तर्कों और दलीलों में यदि कुछ दम है, तो यह मानना होगा कि संतति-निग्रह के लिए, कृत्रिम साधनों के इस्तेमाल की इजाज़त वर्तमान स्थिति में, चाहे आपद्-धर्म समझते हुए ही, किसी हद तक, देनी ही होगी। इन साधनों के इस्तेमाल को अनैतिक न कहें, तो भी यह तो हर घड़ी ध्यान रखना ही होगा कि इनके अत्यन्त संयत प्रयोग पर ही मानव-जाति का सुख और भविष्य अवलंबित है। संयम की महामुश्किलों को दूर करने के लिए ही इनका सहारा लेना है, इसीलिए नहीं कि मनुष्य विषय-भोग में पड़कर और भी अधिक दीन हो जाय, अपनी क़ीमती ज़िन्दगी बरबाद कर बैठे और अपने ही हाथों अपनी क़ब्र खोदने लगे। हज़ारों जिह्वाओं से यह तो कहना ही होगा कि 'संयम ही धर्म की जड़ है।' सौन्दर्य-प्रेमी कवि ने, संयम को 'सत्त्वसंश्रमसुखः' (प्राणियों के लिए सुख का मूल) ठीक ही कहा है। निःसत्त्व और निर्वीर्य के लिए ज़िन्दगी ज़हरीली हो और संसार सूना हो तो क्या आश्चर्य है! आखिर सत्य तो निम्न महामन्त्र में ही निहित है :—

"मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्।"

२ जुलाई, १९६४

: २८ :

संयम के राही के कानों में

संयम का मार्ग कठिन अवश्य है, परन्तु हिम्मत हारने की कोई ज़रूरत नहीं। मनुष्य ने बड़ी-से-बड़ी विजय पाने के लिए जन्म लिया है। अपने शरीर और मन पर विजय पाना तो हर किसी का प्रथम कर्तव्य है। यह विजय छोटी है, हम नहीं कह रहे। हाँ, दृढ़ निश्चय तथा श्रद्धा हो तो मनुष्य के लिए असंभव कुछ भी नहीं। छोटे-से-छोटे मनुष्य में बहुत-कुछ कर जाने की, कम-से-कम आत्म-संयम पाने की शक्ति अवश्य है। हर किसी को यह विश्वास होना चाहिए; और अपनी शक्ति के अनुरूप कर्म, यथाशीघ्र, शोध लेना चाहिए। जीवन-विकास की यही सीधी राह है।

सुदीर्घ जीवन-यात्रा के राही के कानों में हिम्मत और धैर्य बँधाने के लिए, दो शब्द कहना अनुचित न होगा :—

१—कभी-कभी स्वप्नदोष द्वारा होनेवाले वीर्यपात से विवाहितों और अविवाहितों को घबराने की ज़रूरत नहीं। यह लगभग उतनी ही प्राकृतिक घटना है जितना स्त्रियों का मासिकधर्म। स्वप्नदोष सभी को होता है, महात्मा भी इससे बचे नहीं हैं।

२—निठल्ले बैठे विषय-वासना का ज़हर मन में घोलते रहने की बजाय, बाहर निकलकर घूमना-फिरना, लोगों से मिलना-जुलना, खेलना-कूदना व सार्वजनिक कार्यों में भाग लेना आदि कहीं बेहतर है। शुक्र-ग्रंथियों से निकलनेवाले वीर्य को, इस प्रकार शरीर के भीतर खप जाने में पर्याप्त मदद मिलती है।

३—विभिन्न पुरुषार्थों, देश, धर्म तथा सेवा के कार्यों से जहाँ कीर्ति प्राप्त होती है, वहाँ काम-वृत्ति का अपने आप ऊर्ध्वी-

करण (Sublimation) हो जाता है। इस प्रकार विषय-वासना की तृप्ति में खर्च की जानेवाली शक्ति का मुँह, पुरुषार्थ-सिद्धि की ओर मोड़कर ही, मनुष्य महान् कार्य करने में सफल होते हैं।

४—मन में विषयेच्छा (Sexual desire) उत्पन्न होने से भयभीत होने की ज़रा भी ज़रूरत नहीं। इच्छा मात्र से कोई व्यभिचारी या पापी नहीं हो जाता। आकर्षक रूप देखकर हर किसी के मन में ऐसी इच्छाएँ, स्वाभाविक रूप से, उठती हैं। धर्म या पुण्य तो इन इच्छाओं के सन्मुख न झुकने में है, इनके अनुकूल आचरण न करने में ही मनुष्य की वहादुरी है।

५—ईसा ने ज़रूर कहा है :—

But I say unto you, that whosoever looketh on a woman to lust after her hath committed adultery with her already in his heart.

गीता में भी कहा है :—

'जो शरीर को वश में रखता हुआ जान पड़ता है, परन्तु मन से विकार का सेवन करता है वह मिथ्याचारी है।' इन उक्तियों से चिन्तित न होना चाहिए। व्यभिचारी या मिथ्याचारी तो असल में वह है जो मन में विषयों का सेवन करने में आनन्द मानता है। वह नहीं जो विषयेच्छाओं का डटकर मुक़ाविला करता है। महात्माजी के शब्दों में :—

"मन को विकारवश होने देना एक बात है और मन का अपने-आप, अनिच्छा से वलात् विकार को प्राप्त हो जाना या होते रहना, यह दूसरी वात है। इस विकार में यदि हम सहायक न वनें तो अन्त में जीत ही है।"

६—इन्द्रिय-संयम की पूर्णता तो आख़िर मन को विषय-विकारों से रहित करने में ही है। मन में विकार न हों तो इन्द्रियाँ बेचारी कहीं जाती नहीं हैं। इसलिए बड़ी बात (सच्चा संयम) तो मन को विषय-विकार से शून्य वनाने में है।

इसके लिए केवल जननेन्द्रिय को रोकते रहने की चेष्टा से कुछ बनता नहीं है। हाँ, सभी इन्द्रियों को एकसाथ रोकने का अभ्यास किया जाय, तो मन को निर्विकार बनाने में बड़ी मदद मिलती है।

७—असंयत विषय-भोग भी, शिथिलता, उदासीनता तथा भाँति-भाँति के रोगादि का कारण है। उछलता हुआ उत्साह, प्रकाशमान तेज, तथा अजीबोग़रीब मस्ती जो दरिया का रुख फेर देने तथा पहाड़ को इधर से उठाकर उधर धर देने को कहती है, एक ब्रह्मचारी में ही हो सकती है :—

हन्ताहं पृथिवीमिमां नि दधानीह वेह वा।
कुवित् सोमस्यापामिति॥ ऋग्वेद १०-११९-९

सोमरस (सोम=वीर्य; रेतो वै सोमः) का मैंने पान कर लिया है। इसलिए अब तो ऐसा जी चाहता है कि पृथिवी को उठाकर यहाँ से वहाँ रख दूँ।

८—सोने और उठने का समय नियत होना चाहिए। इससे नींद जल्दी आती है। जिसे नींद जल्दी आती है, तथा दिनभर की थकान से नींद गहरी आती है, उसका आधा काम तो बन गया समझिए।

९—स्त्री-पुरुष को जहाँ तक बने, अलग-अलग कमरों में ही सोना चाहिए। दोनों का समीप या एक ही बिस्तरे पर सोना, विषय-वासना को बुलाने का ज़बरदस्त ज़रिया है।

सिनेमा, अश्लील साहित्य, पास-पास सोना आदि जिस किसी से विषय-विकार उत्पन्न हो, उसे अपने लिए भोग-विलास मानकर, छोड़ देना उचित है।

१०—संयम का मुख्य आधार तो हृदय-बल है। हृदय-बल हो, विकारों पर विजय पाने का दृढ़ इरादा हो, तो संयम जितना कठिन कहा गया है उतना कठिन न रहेगा। अक्षर-अभ्यास जैसी साधारण वस्तु के लिए भी कितनी लगन और धीरज चाहिए, हम जानते हैं। काम-विजय तो दुनिया की सबसे

बड़ी विजय कही गई है। इसके लिए कितने बड़े संकल्प और धैर्य की आवश्यकता है, खूब समझना चाहिए, तदनुसार तैयारी बतानी चाहिए।

प्रतिदिन पवित्रता के लिए सच्चे दिल से की गई प्रार्थना अपूर्व हृदय-बल उत्पन्न करती है।

११—वीर्य-रक्षा के लिए अल्प भोजन, स्वच्छ हवा, शारीरिक श्रम आदि आवश्यक हैं। परन्तु सबसे बड़ी बात तो मन को स्वच्छ विचारों से परिपूर्ण रखना है। विषय-विकार का मूल, दरअसल, मन में ही है। इस मूल को उखाड़ फेंकने में पवित्र विचारों से बहुत बड़ी सहायता मिलती है।

पवित्र विचारों के लिए सदाचारी मित्रों और उत्तम धर्म-ग्रन्थों को अपना साथी बनाना चाहिए। गीता जैसे धार्मिक ग्रन्थों का नियमित अभ्यास और पाठ इस मार्ग में बहुत सहायक है। मन उत्तम विचारों के चिन्तन-मनन में व्यस्त होगा, तो अश्लील विचारों और विकारों को भीतर घुस आने का अवकाश बहुत कम होगा। महात्मा जी का सुन्दर कथन है :—

'बुरे विचारों की दवा भले विचार हैं।'

१२—निषेधात्मक (Negative) प्रयत्नों की अपेक्षा भावात्मक (Positive) प्रयत्न अधिक मदद-रूप हैं। स्वच्छ विचार, समाजोपयोगी कार्य तथा आदर्श के लिए तपोमय जीवन आदि अच्छे भावात्मक प्रयत्न हैं। स्वामी रामतीर्थ ने कहा है :—

'काम की दवा काम है।'

सौ दवाओं की यही दवा है। इसलिए, पुनरुक्ति का भय होते हुए भी, कहेंगे कि मनुष्य को रोज़-रोज़ अच्छे काम करते रहना चाहिए। अच्छे काम से बढ़कर पवित्र वस्तु क्या है? अच्छा काम ही भक्ति है। भक्ति कभी निष्फल गई है?

४ जुलाई १९६४

□□□



पुस्तकायन